॥ श्रीहरिः ॥

ज्ञान–मणिमाला तथा सत्संग–माला

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास

निवेदन

इसके मूल लेखक हैं श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास । ये गुजरातके वसो नामक ग्रामके निवासी थे। गत संवत् २००५ आषाढ़ कृष्ण सप्तमी सोमवारको संध्याके समय पद्मासन लगाकर प्रणवका जप करते-करते ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा इन्होंने ऊर्ध्वगति प्राप्त की थी। ये बड़े ही भक्त, सूक्ष्म विचारक और साधनसम्पन्न सत्पुरुष थे। इनके ये विचार बहुत ही अच्छे लगे थे, इससे इनका हिन्दीमें अनुवाद करके 'कल्याण' में क्रमशः प्रकाशित कर दिया था। 'कल्याण' के पाठकोंने इनको बहुत पसन्द किया और पुस्तकरूपमें प्रकाशित करनेके लिये बार-बार अनुरोध किया। तदनुसार इन्हें पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया जा रहा है। ये विचार बहुत ही सुन्दर, उपादेय और लाभकारक हैं। आशा है, पाठकगण इस पुस्तकसे लाभ उठायेंगे।

भा० कृ० ५, सं० २००९ **हनुमानप्रसाद पोद्दार**

गोरखपुर

विशेष—संवत् २०५५ से ज्ञान-मणिमाला एवं सत्संग-माला —दोनों पुस्तकोंको सुविधाकी दृष्टिसे एक साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

॥ श्रीहरिः ॥

ज्ञान-मणिमाला

१—'दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमात्माकी प्राप्ति' को मोक्ष कहते हैं। इस मोक्षकी सिद्धि जबतक नहीं हो जाती, तबतक जीवको शान्ति नहीं मिल सकती। कुछ लोग कहते हैं कि मुक्तिकी प्राप्ति सहज है, परंतु वे ऐसा इसीलिये कहते हैं कि उन्होंने मुक्तिके स्वरूपपर विचार ही नहीं किया है। मुक्ति वस्तुतः स्व-स्वरूपमें परोक्ष स्थिति होनेपर भी सहज नहीं है।

२—आत्मज्ञानके बिना किसी भी कालमें किसीको भी मुक्ति नहीं मिलती। मुक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमें विभिन्न विचार हैं—कुछ लोग कहते हैं कि 'इस लोकमें फिर जन्म न हो और स्वर्ग या किसी उच्च लोककी प्राप्ति हो जाय तो उसे मुक्ति कहते हैं।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है। जिस प्रकार यह लोक नाशवान् है, उसी प्रकार कालविशेषमें सभी प्राकृतिक लोक भी नाशको प्राप्त होते हैं। जैसे इहलोकमें सुख-दुःख हैं, उसी प्रकार देवलोकोंमें भी सुख-दुःख हैं। वस्तुतः जो कभी बना है, वह सब नाशवान् है। जब देह धारण हुआ है तो चाहे वह यहाँकी अपेक्षा दिव्य ही क्यों न हो, उसका नाश होगा ही और भोग भी चाहे कैसे भी दिव्य क्यों न हों, नष्ट होंगे ही। वस्तुतः स्व-स्वरूपके सम्यक् ज्ञानके बिना कभी मुक्ति सम्भव नहीं।

३—साधकको ज्ञानके लिये पहले यह दृढ़ निश्चय करना जरूरी है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ।' शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि—इनमें कोई एक या सबका समुदाय मैं नहीं हूँ। 'मैं असंग आत्मा हूँ'—ऐसा चिन्तन बारंबार करे और इसके लिये निम्नलिखित दोहा बारंबार पढ़े तथा उसपर विचार करे—

नहीं देह, नहिं इन्द्रियाँ, न मन-बुद्धि स्वच्छन्द।
नहीं जीव, मैं आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द॥

बन पड़े तो प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल—तीनों समय इस दोहेका अर्थ समझते हुए एक-एक माला जप करे। न बने तो एक माला रोज जरूर जप ले।

'मैं शरीर हूँ'—जबतक जीव यह मानता रहेगा, तबतक करोड़ उपाय करनेपर भी शाश्वत सुख-शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होगी। हम शरीर नहीं हैं, यह निश्चय है, फिर भी हम अपनेको शरीर मानकर सारा व्यवहार करते हैं। इसलिये पहले इसीको बंद करें और 'मैं शरीर नहीं, बल्कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे परे असंग शुद्ध आत्मा हूँ' यह चिन्तन करे। यह सिद्धान्त नितान्त सत्य है और इसके चिन्तनसे अवश्य शान्ति मिलती है।

४—इस जगत्‌में दो वस्तुएँ हैं—एक दृश्य और दूसरा द्रष्टा। ये दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभावके हैं। कभी वस्तुका स्वभाव दूर नहीं होता। जबतक वस्तु है, तबतक उसका स्वभाव भी रहेगा। दृश्य विकारी और विनाशी है तथा द्रष्टा अविकारी और अविनाशी है। दृश्य प्रकृति और उसका कार्य है तथा द्रष्टा आत्मा है। शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि दृश्य कोटिमें प्रकृतिके कार्य हैं और द्रष्टा आत्मा इन सबसे विलक्षण है।

५—जिसको हम चाहते हैं या जानते हैं, वह वस्तु हम नहीं होते हैं—यह बात सत्य है न? शरीर, मन, इन्द्रिय और बुद्धि—इन सबको हम चाहते हैं या जानते हैं, इसलिये हम इन सबसे पृथक् हैं और वह हम आत्मा हैं—इस बातका बारंबार चिन्तन और विचार करे। यह सहज ही दृढ़ नहीं हो जाता, क्योंकि अनेक जन्मोंके विरुद्ध संस्कार चित्तमें पड़े हुए हैं, वे विचार और सत्संगके बिना सहजमें नहीं हटते। अनेक दूसरी युक्तियोंसे भी यह दृढ़ करे कि शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदिसे हम पृथक् हैं। वे सब दृश्य हैं और हम द्रष्टा आत्मा हैं, उन सबके साक्षी हैं।

६—जन्म शरीरका होता है, बढ़ता है शरीर, क्षीण होता है शरीर

और वृद्ध होकर नाशको प्राप्त शरीर ही होता है। इन सब अवस्थाओंमें आत्मा तो जैसा-का-तैसा एकरूप रहता है। वह आत्मा सब कुछ देखता है, अनुभव करता है, साक्षी है। वह न जन्मता है, न बढ़ता है, न क्षीण होता है और न मरता है। उस आत्माको अग्नि जला नहीं सकता, उसे शस्त्र काट या छेद नहीं सकते, जल भिगो नहीं सकता, पवन सुखा नहीं सकता। वह सदा शान्त, निर्विकार एक स्वरूपमें रहता है। वह कुछ करता नहीं, कुछ करवाता नहीं। वह न मरता है और न मरवाता है और न मारता-मरवाता है। वह सदा एकरस, एकरूप, शान्त रहता है और वह आत्मा हम स्वयं हैं, यह सत्य है। इसका अनेक युक्तियोंसे विचार करके बारंबार चिन्तन करे।

७—यह खुला सत्य है कि शरीर जन्मता है, शरीर अन्न-जलसे बढ़ता है, शरीर रोगी और नीरोग होता है। शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे ही सारे कर्म होते हैं; मन, बुद्धि ही हर्ष-शोक करते हैं; तथापि यह सब हम ही कर रहे हैं, ऐसा हम मानते हैं। इसीका नाम है 'अज्ञान'। जबतक यह अज्ञान अभ्यासके द्वारा नहीं मिट जाता, तबतक सुख-शान्ति कैसे हो सकती है? जो अपराधी होता है, वह साक्षी नहीं होता और जो साक्षी होता है, वह अपराधी नहीं होता। यह बात सही है। यह भी ठीक है कि प्रकृतिरूप शरीर, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धिसे सारी क्रियाएँ होती हैं और इन सारी क्रियाओंको होते हुए हम देखते हैं, जानते हैं। यह बात भी सही है कि हम कर्ता नहीं हैं, बल्कि साक्षी हैं; हम अपराधी नहीं हैं, बल्कि साक्षी हैं। फिर भी अपराधी कहलाकर दण्ड भोगनेके लिये हम राजी हैं, इससे बढ़कर मूर्खता क्या हो सकती है? संत और शास्त्र एक ही बात कहते हैं कि 'तुम कर्ता—अपराधी नहीं हो, तुम तो द्रष्टा साक्षी हो। यह निश्चय करो। कर्ता तो प्रकृति है, तुम प्रकृतिसे परे पुरुष हो। प्रकृतिसे असंग और चेतन हो।' यह बात सत्य है और विचारके द्वारा दृढ़ करनेयोग्य है।

८—कोई कहता है कि 'शरीर, इन्द्रिय और मन आदि कर्मके कर्ता

ठीक ही हैं, परंतु प्रेरक तो हम आत्मा ही हैं, क्या यह ठीक नहीं? प्रकृति तो जड है और प्रेरक आत्मा है। फिर कर्मका कर्ता आत्मा क्यों नहीं होगा?' इसका उत्तर यह है कि शरीर कर्म करता है, परंतु उसको प्रेरणा देनेवाले मन और बुद्धि हैं। जिनको शास्त्रमें 'चित्त' शब्दसे पुकारते हैं, अतएव चित्त ही सारे कर्मोंका कर्ता, भोक्ता है। इस चित्तसे आत्मा पृथक् है। हम इस चित्तके भी द्रष्टा हैं। जो द्रष्टा होता है, वह दृश्यसे पृथक् होता है, यह सदा याद रखना चाहिये। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चारों मिलकर अन्तःकरण होते हैं, जिसके लिये 'चित्त' शब्दका प्रयोग होता है। यह चित्त ही एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है। यह चित्त हम नहीं हैं, बल्कि हम चित्तसे पृथक् हैं, यह बारंबार विचारपूर्वक चिन्तन करना चाहिये।

९—हम आत्मा हैं, चेतनस्वरूप हैं, जन्म, जरा और मृत्युसे रहित हैं, प्रकृतिसे भिन्न हैं, सदा सत्स्वरूप हैं—इस प्रकार आग्रहपूर्वक विचार करते हुए चिन्तन करना चाहिये।

१०—जगत्में अथवा स्थावर या जंगम जो भी प्राणी उत्पन्न होता है, उसमें शरीर और आत्मा दोनों ही होते हैं। गीतामें शरीरमें इन वस्तुओंका समावेश किया गया है—पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति—इन सबसे बना हुआ 'शरीर' कहलाता है। ये सब दृश्य हैं और हम इनके द्रष्टा हैं। सारे दृश्य विकारी और विनाशी होते हैं। आत्मा अविकारी और अविनाशी है। हम द्रष्टा हैं और आत्मा हैं। इस प्रकार युक्तिसे विचार करके देखे।

११—शरीरमें जो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार 'अन्तःकरण' नामसे पुकारे जाते हैं, इन सबका एक नाम 'चित्त' भी है। चित्त ही सारे कर्मोंका कर्ता और शरीरको चलानेवाला है। यह चित्त शास्त्रसे मरता नहीं, उपवाससे दुबला नहीं होता, इस चित्तको जितना समझाया जाय, उतना ही सत्यको समझता है। बलपूर्वक वह नहीं

समझता और जबतक चित्त नहीं समझता, तबतक सब बेकार है। मैं आत्मा हूँ, यह शरीर नहीं हूँ—चित्त यह मान ले तो तदनुसार बर्तने लगेगा। यह चित्त भोगेच्छाके त्याग, विचार और सत्संग—इन तीनोंके बिना कभी समझता नहीं है। सारांश यह है कि साधकको विचार, सत्संग और वैराग्यका सदा सेवन करना चाहिये तथा परमात्माकी आराधना करनी चाहिये। परमात्माकी शरण लिये बिना कोई साधना सफल नहीं होती। यह चित्त जबतक मरता नहीं, तबतक आत्मा या परमात्माका दर्शन नहीं होता। इस चित्तकी सच्ची खुराक भोगेच्छा है। जैसे-जैसे भोगेच्छारूप वासना घटती जायगी, वैसे-वैसे वह क्षीण होता जायगा।

१२—भोगेच्छाके शमनके लिये पुराण पढ़े और ज्ञानके लिये उपनिषद्, गीता और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थ पढ़े। पुराणोंको जो लोग गप्प कहते हैं, वे लोग विचारपूर्वक और ज्ञानके लिये पुराण नहीं पढ़ते। पुराणोंमें मनुष्यलोक और देवलोकका वर्णन है। उन सबमें वर्णित तथ्यकी सत्यता-असत्यताका विचार न करके इतना तात्पर्य लेना चाहिये कि देव, दानव या मनुष्य अनेक हो गये हैं, जो अनेक उपाय करनेपर भी अमर नहीं हो सके। सबके शरीर नाशको प्राप्त हुए हैं। दूसरे, अनेक लोग समृद्धि और वैभव, शक्ति और साधनके होते हुए भी आजपर्यन्त भोगोंसे संतुष्ट नहीं हुए। तीसरे, चाहे जितने लोक हों, वहाँ सुख-दुःख तो होंगे ही। कोई भी लोक हो, वहाँका भोग नाशवान् तो होगा ही। अतएव हमको भोगके लिये या किसी लोकमें जानेके लिये कोई प्रयास नहीं करना चाहिये। जैसा यहाँ सुख-दुःख है, वैसा ही वहाँ भी है। ऐसा कोई लोक नहीं है, जहाँ दुःख न हो; ऐसा कोई शरीर नहीं है, जिसमें दुःख न हो और मृत्यु न हो। शरीर तो मरनेवाला ही है, फिर वह मृत्युलोकका हो या इसकी अपेक्षा दिव्य हो। इस जगत्में आत्माके सिवा और कुछ भी नित्य नहीं। जो अनित्य और विकारी है, उससे शाश्वत सुख, अखण्ड आनन्द कैसे मिल सकता

है? नित्य, आनन्दस्वरूप और निर्विकारी तो एक आत्मा है और वह आत्मा हम हैं, यह बारंबार विचार करे।

१३—आत्मा शरीरमें है, फिर भी वह शरीरसे असंग है तथा शरीरसे पृथक् है, शरीरके धर्मसे लिप्त नहीं होता। यह आत्मा कैसा है? जैसा बुद्धि और चित्तसे निश्चय हो। चित्तमें सत्संग, विचार और वैराग्यसे आत्माके स्वरूपका निश्चय करके तदनुसार बर्तना चाहिये। जैसे धनवान् वह है, जो धनके लिये दूसरोंसे भीख नहीं माँगता। इसी प्रकार आत्मा सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है, यह ठीक तौरसे जान लेनेके बाद चित्तमें सुख या आनन्दके लिये किसी प्राणी-पदार्थकी इच्छा नहीं होती। आत्मामें ही आनन्द प्राप्त करे, आत्माके साथ रमण करे। जिसको आत्मस्वरूपका सच्चा ज्ञान होता है, वह सुखके लिये तुच्छ भोगोंमें कभी नहीं रमता। वह सदा आत्माराम होता है। भोगेच्छाको छोड़े बिना कभी कोई आत्माराम नहीं होता। आत्माराम होनेके लिये आवश्यक है कि चित्तमें जो कामनाएँ उठें, उनका त्याग करे। इन्द्रियोंको उनके भोगोंसे अलग रखे और चित्तको आत्मामें जोड़ दे। यह सहज ही नहीं होता, इसके लिये परमात्माका नाम रटते-रटते अभ्यास करना पड़ता है। चिन्तन करना चित्तका स्वभाव है। चित्त या तो भोगोंका चिन्तन करेगा या परमात्माका चिन्तन करेगा। दोमेंसे एक करेगा। इसलिये इसको सदा परमात्माके चिन्तनमें लगावे। यही चित्त-शान्ति और भोग-त्यागका अमोघ उपाय है, इसीके साथ सत्संग भी करता रहे।

१४—शरीरमें तीन भाग हैं—शरीर, चित्त और आत्मा। चित्त इच्छा करता है शरीरके लिये, अपने लिये और आत्माके लिये तथापि नाम लेता है आत्माका। जैसे मन्दिरमें स्थित भगवान्‌की मूर्ति न कुछ खाती है, न पीती है तथापि पुजारी कहते हैं कि भगवान् भूखे हैं, भगवान्‌को भोग लगाना है। वह सारा खान-पान मूर्तिके आगे रखकर फिर ले लेता है और स्वयं उपयोग करता है। इसी प्रकार इस शरीरमें आत्मा

भगवान्‌की मूर्तिरूप है और चित्त मुख्य पुजारी है तथा शरीर मन्दिर है। आत्मा कुछ खाता-पीता नहीं, कुछ भोगता नहीं। मन्दिरकी अचल मूर्तिके समान विराजता है। उसका नाम लेकर चित्त सारे भोगोंकी इच्छा करता है, सम्पादन करता है और भोगता है। आत्मा नित्यमुक्त और अविनाशी तथा अविकारी है तथापि चित्त आत्माका नाम लेकर कहता है कि आत्मा बद्ध है। चित्तमें तीन प्रकारकी इच्छाएँ उठती हैं—(१) शरीर-पोषणकी, (२) मौज उड़ानेकी तथा (३) मुक्तिकी। शरीर-पोषण तो प्रारब्धानुसार होगा, इसके लिये चित्तको बारंबार समझावे कि इसकी चिन्ता छोड़ दे। आत्मा तो नित्यमुक्त है, यह उसे समझाकर मुक्तिकी चिन्ता छोड़े और मौजमात्रका त्याग करे। चित्तको भोगोंमें रमण करनेसे सदा रोके अर्थात् भोगकी चिन्ताका त्याग करे और सदा आनन्दमें रहे। चित्तमें आत्माको रमण करावे। आत्माकी रट लगावे। जगत्‌में वस्तुतः चिन्तनका कोई विषय नहीं है तथापि चित्त व्यर्थ ही चिन्तासे व्याकुल रहता है। जबतक चिन्ता रहती है, तबतक चित्तको चैन नहीं मिलता और आत्मानन्दका अनुभव नहीं होता। अतएव अनेक युक्तिसे चित्तको समझाकर चिन्तामुक्त करे। चिन्तासे क्लेश उठानेसे कोई सुख या सच्चा फल नहीं होता। इसलिये इस निरर्थक और दुःखदायी चिन्ताके क्लेशको त्यागनेके लिये ही शास्त्र कहते हैं। कर्म करनेका शास्त्र निषेध नहीं करते। चिन्ता, व्याकुलता और क्लेश—जिनका दुःखके सिवा और कोई परिणाम नहीं है, इनको त्याग देनेका उपदेश संत और शास्त्र करते हैं। जब कोई प्रसंग पड़े तो मनसे पूछो कि इसका क्या उपाय है? जैसे अपना जवान पुत्र मर जाय तो चित्तमें क्लेश होता है, उस समय चित्तसे पूछना चाहिये कि इस मृत पुत्रको जिलानेका कोई उपाय है? क्या रोने-कलपनेसे यह जी जायगा? तब वह कहेगा कि नहीं। तो जिस क्रियाका दुःखके सिवा दूसरा फल नहीं होता, उस क्रियाको न करे। इसी दृष्टान्तद्वारा जीवनके दूसरे प्रसंगोंको भी समझे। उद्यम करने, पुरुषार्थ और प्रयत्न करनेकी मनाही नहीं है।

परंतु चित्तको ऐसा अभ्यास कराये, जिससे वह क्लेश, व्याकुलता और उद्वेगमें न पड़े। जिसका चित्त सदा शान्त रहता है, वह सदा मुक्त है। जिसका चित्त अशान्त है, वह सदा बद्ध है। अतएव जिस प्रकार चित्त सदा शान्त रहे, इसका अभ्यास करता रहे।

१५—और कुछ लोग जो कहते हैं कि 'कुछ भी न करे, बिलकुल क्रियाहीन होकर बैठा रहे।' यह ठीक नहीं; कोई भी आदमी क्षणमात्र भी क्रिया बिना नहीं बैठ सकता। केवल सुषुप्ति और समाधिमें शरीर और चित्त क्रियाहीन रहते हैं। शेष शरीरकी प्रकृतिके अनुसार शरीरको कर्म करना ही पड़ता है। वह रोकनेसे नहीं रुकता। स्थूल शरीरको हठपूर्वक चेष्टारहित रख सको तो मन अपना चर्खा चलाये बिना नहीं रहता और यदि मन संकल्प-विकल्परहित हो जाय, तो सदा आनन्द ही रहे। बहुत मेहनत करनेपर मनको संकल्परहित किया जाता है। जबसे शरीरने जन्म लिया है, तबसे वह एक प्रकारकी प्रकृति लेकर उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकृतिके परमाणुसे वह बना है और जो संस्कार उसमें है, उसके अनुसार उसे क्रिया करनी ही है। जो क्रिया करता है, उसका फल भोगता है, तदनुसार जन्म-मरण चला ही करता है। इसका उपाय यह है कि क्रिया तो चित्तके साथ शरीर और इन्द्रियाँ करती हैं और मैं कहनेवाला आत्मा तो सबका असंग साक्षी है। जो कर्म करता है, वह फल भोगता है। मुझ आत्मामें कर्तापन नहीं है और भोक्तापन भी नहीं है, इस प्रकार अभ्यास करके मैं असंग आत्मा अकर्ता और अभोक्ता हूँ, यह ज्ञान सदा जाग्रत् रखकर शरीरसे कर्म करता रहे। इसके लिये नाटकके पात्रोंका दृष्टान्त लो। नाटकमें अभिनेता स्त्रीका पार्ट लेता है, फिर राजा हो जाता है, यह सब पार्ट करनेवाले अभिनेताका उस पार्टके साथ जैसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, इसी प्रकार आत्माका शरीरके पार्टके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। राजाका अभिनय करनेवाले पात्रको उस पार्टसे कोई लाभ नहीं और भिखारीका पात्र बननेवालेको कोई सच्चा दुःख नहीं

होता। इसी प्रकार आत्माने शरीर धारण किया है, इस कारण उसका अभिनय करते हुए अपनेको उस शरीरसे असंग समझे। आत्मा जन्मता नहीं, मरता नहीं, बूढ़ा नहीं होता। जो कुछ होता है, वह सब शरीरको होता है। यह आत्मज्ञान लोकको ठगनेके लिये नहीं है और एक बार बाँचने या सुननेसे यह हो भी नहीं जाता। यदि चित्त एक क्षण भी आत्मचिन्तन बिना रहे तो वह चित्त अनर्थ करता है। इसलिये यह अभ्यास करनेवाला साधक ध्यानपूर्वक चित्तको आत्मचिन्तनमें लगाये रखे और शरीरसे निज धर्मरूप कर्मोंको करता हुआ सदा चित्तको आत्मचिन्तनमें रखे। आत्मचिन्तनमें साधक जितना प्रमाद करेगा, उतना ही उसका पतन होगा। ऐसा कभी न समझे कि 'मैं तो आत्मज्ञानी हो गया, मैं जो करता हूँ, उससे मेरा सरोकार नहीं।' ऐसा सोचनेवालेको आत्मज्ञान हुआ ही नहीं होता। यह तो भावी अनर्थका संनिपात होता है। आत्मज्ञानीसे कभी पाप होता ही नहीं। उसकी सारी क्रियाएँ शान्त और पुण्यमय, सुख-शान्ति प्रदान करनेवाली होती हैं। इसलिये मनको शान्त रखकर मनसे आत्मचिन्तन करते हुए शरीरसे प्रकृतिके अनुसार कर्तव्य समझकर कर्म करता रहे।

१६—चित्तको शान्त रखनेकी खास जरूरत है। शान्त चित्त ही मुक्तिका सच्चा साधन है। जैसे हमें नहीं बोलना होता है तो मौन रहते हैं और तदनुसार समय-विशेषमें मौन बैठे रहते हैं। उसी प्रकार एकान्तमें बैठकर चित्तको संकल्परहित करनेकी आदत डालनी चाहिये। प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी देरतक यह अभ्यास करे। इस प्रकार बैठनेके पहले चित्तको पूछे कि उसको कुछ विचार करना है तो कहे और कर ले। विचार हो तो कर ले। फिर कहे कि अब इतने समयतक बिना कोई विचार किये बैठना है, इसलिये शान्तिसे बैठो। जैसे किसी दूसरेको कहा जाता है, वैसे चित्तको कहकर चित्तके ऊपर लक्ष्य रखकर शरीरको हिलाये-डुलाये बिना शान्त बैठा रहे। फिर भी चित्त कोई विचार खड़ा कर दे, तो कहे कि 'हिलो-डुलो मत। विचारको बंद करो

और शान्त बैठे रहो।' इस अभ्यासको धीरे-धीरे बढ़ावे और इसे विक्षेपरहित एकान्त स्थानमें करे। इस अभ्याससे थोड़े ही दिनोंमें पूर्ण शान्ति आ जायगी।

१७—स्थावर-जंगम सब प्राणियोंमें आत्मा है। देव, दानव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके भी शरीरमें आत्मा है। आत्माके होनेसे ही शरीर सब क्रिया कर सकता है। आत्मा सब शरीरमें एक-सा है। आत्मा स्त्री नहीं है, पुरुष नहीं है, नपुंसक नहीं है। इसकी न कोई जाति है। न कोई धर्म है। आत्मा न छोटा है न बड़ा है, इसका कोई रूप-रंग नहीं है। आत्मा निराकार, निर्विकार, अजर-अमर और अनन्त है, सदा एकरस रहता है। शरीर अनेक हैं, परंतु आत्मा सब शरीरोंमें एक ही है, यह बात तुरंत समझमें नहीं आती। कुछ सम्प्रदायवाले आत्माको अनेक मानते हैं। आत्मा जन्म-मरण, विकार और विनाशसे रहित है, इतनी बात तो समझमें आती है न? तथा वह आत्मा शरीरसे पृथक् मैं ही हूँ—इन दोनों बातोंको निश्चय कर रखो। यदि किसी सम्प्रदायका आग्रह हो तो उसे मनसे निकाल डालो और अपनी बुद्धिसे विचार करके आत्माके स्वरूपका निर्णय करो। 'जन्म, जरा, मृत्यु और विकारसे रहित आत्मा असंग है और वह आत्मा मैं हूँ।' इतना निश्चय हो जानेके बाद, वह आत्मा सब शरीरोंमें एक है, अनेक नहीं—इसको अभ्यासद्वारा समझे, अभ्यासमें कोई उतावली न करे। आत्माके जिस स्वरूपका निश्चय हो, तदनुरूप वासनाका त्याग करता जाय, इच्छारहित होता जाय और जिस किसीके साथ कभी विवाद न करे। अपनी आत्मा कैसी है? जिसकी बुद्धिमें जैसा निश्चय हो वही आत्मा है। 'जन्म, जरा, मरण, विकार और विनाशसे रहित मैं असंग आत्मा हूँ'—यह चिन्तन और मनन बारंबार करता रहे।

१८—सबमें आत्मा है, यह जानकर अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्राणिमात्रकी सेवा करे। इस सेवाके द्वारा आत्माका साक्षात्कार होगा।

प्राणिमात्रको दुःख न हो, ऐसा बर्ताव करे और जिस प्रकार सुख हो, वैसा करे।

१९—'मैं आत्मा हूँ और सबमें आत्मा समानरूपसे रहता है'—यह कहना सहज है, परंतु आचरणमें लाना कठिन है। पहले तो यह बुद्धिमें बैठना कठिन है। बुद्धिमें इसको स्थिर करनेके लिये पहले बुद्धि शुद्ध और निर्मल होनी चाहिये। जिस प्रकार साफ वस्त्रपर रंग ठीक-ठीक चढ़ता है, उसी प्रकार शुद्ध चित्तमें ही आत्माका ज्ञान स्थिर होता है। चित्तशुद्धिके लिये सदाचार, स्वधर्माचरण, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अहिंसा, सत्संग और विचार तथा विवेककी आवश्यकता है। जगत्में चेतन वस्तु एक है। उसको चाहे आत्मा कहो, परमात्मा कहो, ईश्वर कहो या जैसा जँचे, वैसा कहो। सबके शरीरमें रहनेसे वह 'आत्मा' कहलाता है। बड़े-से-बड़े देवता, बड़े-से-बड़े दानव, बड़े-से-बड़े मानव तथा छोटे-से-छोटे देव-दानव-मानव सभीके एवं पशु-पक्षी आदि जीवोंके—सभीके पृथक्-पृथक् शरीरोंमें एक ही आत्मा है। सबका शरीर उसमें रहनेवाले आत्माके सामीप्यसे ही क्रिया कर सकता है और जिस शरीरमें जो शक्तियाँ काम करती हैं, वे आत्मासे प्राप्त हुई होती हैं। आत्मा कुछ करता नहीं, कुछ भोगता नहीं, तटस्थ रहकर देखा करता है। शरीरसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंको समझना चाहिये। मैं यह शरीर नहीं बल्कि आत्मा हूँ, यह चित्तको समझाना कठिन है, सहज नहीं। इसके लिये बहुत प्रयत्नकी आवश्यकता है। अब यह विचारना है कि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये?

२०—ज्ञान तो ज्ञानीके पास ही मिलता है। ज्ञानी वे हैं जिन्हें आत्माका साक्षात्कार हुआ हो, जो ब्रह्मनिष्ठ हों। उनकी सेवा करनेसे, उनसे विनय-विवेकयुक्त प्रश्न करनेसे वे दयालु, ज्ञानी महात्मा सेवासे प्रसन्न होकर ज्ञान देते हैं। ऐसे ज्ञानी सहज ही नहीं मिलते। पुस्तक बाँचनेसे, व्याख्यान या आख्यान सुननेसे ज्ञान नहीं होता। यह सब

चित्तशुद्धिके लिये आवश्यक है, परंतु ज्ञान तो ब्रह्मनिष्ठ संतसे ही मिलता है। ऐसे संत जबतक न मिलें, तबतक परमात्माके नामका जप करे, सदाचारका पालन करे और उद्यम करे।

२१—आत्माका कोई आकार नहीं है। आत्मा कहो या परमात्मा कहो। चेतन-आत्मा एक, अखण्ड, व्यापक और निराकार है। तथापि वे भक्तोंकी प्रार्थनासे साकार दिव्य देह धारण करते हैं, ऐसे सगुण, साकार परमात्माकी किसी भी मूर्तिकी उपासनासे तथा उसके नामका जप करनेसे चित्तशुद्धि जल्दी होती है। शिव, विष्णु आदि देवता सभी भगवत्स्वरूप माने जाते हैं। वे उपासकको भोग और मोक्ष—दोनों प्रदान करनेमें समर्थ हैं। इसलिये जिस देवतामें श्रद्धा हो, उस देवताका जप करे तथा उसकी भक्ति करे। गृहस्थाश्रमीके लिये यह मार्ग बहुत सहज है। भोगकी इच्छामात्रका त्याग साधकको तुरंत हो जाय, यह बहुत कठिन है। मनमें अनेक इच्छाएँ होती हैं, जीवनमें अनेक विपत्तियाँ आती हैं। साधक निष्ठापूर्वक जिस देवकी चाहे आराधना करे। सब देवताओंके शरीर पृथक् हैं, परंतु अंदर एक ही आत्मा है। देवताओंमें छोटाई-बड़ाई नहीं होती, अतएव एक देवताको निश्चय करके अचल श्रद्धासे जप और ध्यान करे। जितनी ही अधिक श्रद्धा होगी, उतना ही शीघ्र फल प्राप्त होगा। आराधना करते समय भोगकी इच्छा न करे तो श्रेष्ठ है। फिर भी, सुखकी प्राप्तिके लिये या दुःखकी निवृत्तिके लिये इच्छा हो तो भी उसी अपने इष्टदेवसे प्रार्थना करे और भगवान्से कहे कि 'हे प्रभो! मेरे मनको भोगोंसे हटाकर अपनेमें लीन करो और मुझको मुक्तिका मार्ग दिखाओ।' प्रार्थनामें बहुत बल है। जो कुछ कष्ट हो सो अपने इष्टदेवसे कहे। साथ ही मनको समझाये कि मुक्तिदाता भगवान्की उपासना करके भोग माँगना मूर्खता है। इस प्रकार मनको रोकता रहे और इष्टदेवकी आराधना करता रहे। सदाचार तो होना ही चाहिये। ऐसा करनेसे इष्टदेव सारी सुविधा कर देंगे। अथवा प्रकट होकर ज्ञान प्रदान करेंगे या संत-साधुको प्रेरित करके उनसे भेंट कराकर

उनके द्वारा ज्ञान प्रदान करेंगे या स्वप्नमें आकर ज्ञान देंगे। बिना किसी कामनाके, केवल मुक्तिके लिये उपासना करनेसे जल्दी फल प्राप्त होता है, चित्त निर्मल होता है या ज्ञानकी प्राप्ति होती है। चित्त निष्काम भक्तिसे निर्मल होता है। अतएव चित्तमें जिस देवके प्रति श्रद्धा हो, उस देवताकी निष्काम भक्ति करे। देवताओंके शरीर पृथक्-पृथक् हैं, परंतु चाहे कोई भी देवता हो आत्मा तो उसमें एक ही है और उस आत्माकी सत्तासे ही सारे शरीर अनेक प्रकारके कर्म करते हैं।

२२—सब शरीरमें आत्मा है, यह जानकर जिन प्राणियोंसे भी सम्पर्क हो, उनका भलीभाँति दान-मानसे सम्मान करें, इस प्रकार आत्मोपासना करें। आत्मा कहें या परमात्मा, चेतन वस्तु एक और अखण्ड है तथा वह प्राणिमात्रके भीतर और बाहर व्याप्त है। ऐसा जानकर प्राणिमात्रको भगवान्‌की मूर्ति समझकर शास्त्रमें कहे अनुसार यथायोग्य सबकी भलीभाँति पूजा करे। जैसे गायकी पूजा चन्दन-पुष्पसे नहीं होती, बल्कि घास देकर उसकी पूजा की जाती है, इसी प्रकार भूखेकी पूजा उसको भोजन देनेसे और प्यासेकी पूजा जल पिलानेसे होती है। रोगीकी पूजा उसकी चिकित्सा तथा सेवा करके होती है। आश्रयहीनकी पूजा उसे आश्रय देकर की जाती है। देवमूर्तिकी सेवा शास्त्र-विधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक पूजा करनेसे होती है। इस साधनसे थोड़े समयमें ही आत्मदर्शन होता है। परंतु जो कुछ करे, पूर्ण निष्कामभावसे करे।

२३—चित्त संकल्प-विकल्प किया ही करता है। उसको शान्त करनेके लिये भगवान्‌की अपने मनके अनुकूल एक सुन्दर मूर्ति रखकर उसके सामने एकटक देखा करे। शरीरको बिना हिलाये-डुलाये, आँखकी पलक बिना गिराये, जबतक बने तबतक उस मूर्तिका दर्शन करता रहे। आँखें थक जायँ तो थोड़ी देर उन्हें आराम देकर फिर आँखें खोलकर उस मूर्तिके अंग-प्रत्यंगका दर्शन करे। इस अभ्याससे चित्त शान्त होगा। श्वास-प्रश्वासकी गति मन्द होगी तथा मन निर्विकार

होगा। ज्यों-ज्यों चित्त शान्त होगा, वासनाएँ मरती जायँगी और आत्मसाक्षात्कार समीप होता जायगा। यदि भगवान्‌के सगुण-स्वरूपके दर्शनकी इच्छा होगी तो भगवान् सगुणरूपमें प्रकट होंगे।

२४—चित्तको शान्त करनेका दूसरा मार्ग यह है कि एक बड़ा दर्पण लेकर विक्षेपरहित स्थलमें एकान्तमें बैठे और दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको एकटक देखे। आँखोंमें जलन हो या पानी आने लगे तो भी बिना घबराये देखता रहे। ऐसा करते हुए जब आँखें थक जायँ, तब थोड़ी देरतक आँखोंको आराम देकर फिर ताकना शुरू कर दे। इस प्रकार रोज थोड़ा-थोड़ा अभ्यास बढ़ावे और मनमें कोई संकल्प उठे तो उसका त्याग करे तथा मनको निर्विकार करता जाय। इन सब अभ्यासोंके करनेमें उतावली न करे। धीरे-धीरे शान्तिसे और धीरजसे आगे बढ़े। एक महीनेतक प्रतिदिन पंद्रह मिनट बैठे और दूसरे महीनेमें धीरे-धीरे बढ़ाकर आधा घंटा कर दे।

२५—एक सुगम उपाय यह है कि बिना हिले-डुले, शान्त होकर एकान्तमें बैठकर आँखें बंद कर ले और मुँदी आँखोंसे जो अँधेरा दीखे, उसको देखता रहे। मुँदी हुई आँखोंसे अँधेरा तो दीखता ही है, उस अँधेरेको देखते हुए मन कोई संकल्प न करे, यह ध्यानमें रखे। संकल्प करने लगे तो उसे रोके। यह अभ्यास भी धीरे-धीरे बढ़ावे। इस अभ्यासके बढ़ाते समय अनेक दृश्य दीखेंगे, उनसे हर्षित न हो तथा घबराये नहीं। जो दीखे, उसे देखता रहे और मनको संकल्परहित बनाये रखे। जो दीखे, उसे परमात्मा या आत्मा न समझे। दीपक-जैसा जान पड़े अथवा चन्द्रमा, तारा, बिजली आदि-जैसे जान पड़े तो उन सब दृश्योंको चित्तकी वृत्ति समझे। मनको बिना किसी विचारके शान्त रखना जरूरी है।

२६—संतोंके द्वारा प्रशंसित एक नादानुसंधानकी प्रक्रिया है। एकान्तमें लंबा होकर सो जाय। दरी या तोशकके ऊपर सोवे। पश्चात् दोनों कानोंमें दो अंगुलियाँ डालकर कानोंके छिद्रोंको बंद कर दे। ऐसा

करनेसे कानोंमें आवाज सुन पड़ेगी। उस आवाजको सुने और इस अभ्यासको धीरे-धीरे बढ़ावे। यह अभ्यास अनुभवी पुरुषके पास सीखकर उसके समीपमें रहकर करे। इससे पक्षियोंकी चहचहाहटसे लेकर घंटी, घड़ियाल, शंखतककी आवाज सुनायी देती है।

२७—देश, काल, वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—इन पाँचोंका असर चित्तपर होता है। ये सात्त्विक, राजस या तामस—जिस प्रकारके होते हैं, उनके संगमें आनेवाला चित्त भी उसी प्रकारका बनता जाता है। अतएव इन पाँचोंको सात्त्विकरूपमें सेवन करे और श्रेयकी इच्छा करते हुए राजस-तामसका त्याग करे।

२८—जैसा मन होता है, वैसा ही मनुष्यका स्वरूप होता है और जैसा संग होता है, वैसा मन बनता है। सबके संगकी अपेक्षा व्यक्तिका संग बलवत्तर है। जैसे व्यक्तिका संग होगा, वैसा ही मनुष्य बन जायगा। इसमें जिस व्यक्तिमें पूज्य-बुद्धि होती है और जिसका वचन प्रमाण जान पड़ता है, उस व्यक्तिके संगका शीघ्र असर पड़ता है। अतएव श्रेयकी इच्छा रखनेवालेको चाहिये कि वह सात्त्विक गुणयुक्त, सदाचारी, ईश्वर-भक्त, शान्त, वैराग्यवान्, नित्य प्रसन्न व्यक्तिकी सेवा करे। भोगी मनुष्यका संग छोड़ दे। संगसे कामना जाग्रत् होती है। जैसा संग होता है, वैसी इच्छा होती है। अतएव मुमुक्षु पुरुष भोग और भोगीका संग सर्वथा त्याग दे। इन्द्रियोंके द्वारा मन अनुभव करता है और अनुभवमें राग होनेसे उसकी इच्छा जाग्रत् होती है। अतएव मोक्षकी इच्छा रखनेवाला विषयकामना उत्पन्न न करे तथा वैषयिक चित्र, नाटक, सिनेमा तथा दृश्य आदि न देखे और वैसे व्याख्यान, आख्यान तथा संगीत भी न सुने। जिससे परमात्माके प्रति प्रीति हो, उसकी भक्ति बढ़े, वैसे दृश्योंको देखे, वैसी वाणी सुननेको मिले, इसलिये संतोंकी सेवा करे। परमात्माकी महिमाके द्योतक निर्दोष प्राकृतिक दृश्योंको देखे।

२९—जैसे आज स्नान करनेके बाद फिर कल स्नान करना पड़ता है; क्योंकि शरीर विकारी होनेके कारण मलिन हो जाता है। इसी प्रकार

आज चित्त शान्त रखनेके बाद कल फिर उसको शान्त करनेका अभ्यास करना पड़ता है। चित्तमें मलिनता आती ही है, अतएव चित्त-शुद्धिके लिये नित्य-निरन्तर प्रयत्न करना जरूरी है। निर्विचार अवस्थामें बैठनेका अभ्यास, परमात्माकी सगुण उपासना और सत्संग—ये चित्तशुद्धिके सुन्दर उपाय हैं; इनका नित्य सेवन करे।

३०—परमात्माके किसी भी एक छोटे-से नामको गुरुके द्वारा ग्रहण कर ले। जैसे राम, कृष्ण, हरि, ॐ आदि। फिर उस नामकी रट बोलकर या मन-ही-मन निरन्तर करता रहे। मनको बेकार न रहने दे। हम चाहे जहाँ रहें, मनको सदा नाम-स्मरणमें लगाये रखें। जैसे रोजाना मजदूरीपर किसी आदमीको काममें लगाया जाता है और जब वह बेकार होता है तो तत्काल काममें लगानेवाला उसको तुरंत काम देता है, बेकार नहीं बैठने देता। उसी प्रकार मनको, जैसे ही वह बेकार हो, तुरंत हरिस्मरणमें लगा दे। यह अभ्यास बहुत ही अच्छा है।

३१—'मैं देह हूँ' ऐसा मानकर हम सारा व्यवहार करते हैं। इसकी जगह 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा मानकर सारा व्यवहार करे। पुराने जमानेमें संतजन शिष्यको यह बात दृढ़ करा देते थे कि 'तू देह, इन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं है, बल्कि तू सबसे परे असंग चेतन-आत्मा है।' इसका भलीभाँति अभ्यास होता था और तदनुसार अभ्यास करते हुए आत्मज्ञान दृढ़ होनेपर मनुष्य सारा व्यवहार जीवन्मुक्त दशामें रहकर करता था। इसी प्रकार सबको चाहिये। देह-स्वरूपके स्थानमें आत्मस्वरूप होकर शरीरसे सारी क्रिया करे और मनसे शान्त आत्मस्वरूपमें रहे। इससे श्रेयकी इच्छा रखनेवाले दिनमें अनेक बार तीन नम्बरमें उक्त साखीको बोला करें।

३२—जो कुछ यह दृश्य जगत् दिखलायी देता है, इस सबके बाहर और भीतर आत्मा है। प्राणिमात्रके शरीरमें आत्मा है। देव, दानव, मनुष्य, पशु-पक्षी सबमें आत्मा है। इसलिये सबको आत्मस्वरूप जानकर उनके साथ आत्मवत् व्यवहार करे। आत्मा ही अनेक रूप

होकर सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो रहा है। आत्माके बिना कोई स्थान नहीं है। सारांश यह है कि आत्मा ही जगत्-रूपमें भासित हो रहा है। इस बातका बुद्धिद्वारा भलीभाँति विचार करे।

३३—जगत्में जो कुछ दिखलायी पड़ता है, सुनायी पड़ता है या अनुभवमें आता है, वह सब पंचमहाभूतोंसे बना है, यह बात ठीक है न? पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पंचमहाभूत कहलाते हैं। इन पंचमहाभूतोंके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इहलोक या परलोकमें इन पंचमहाभूतोंसे न बना हुआ कोई पदार्थ नहीं है। पंचमहाभूतोंमें अन्तिम पृथ्वी-तत्त्वको लें, तो शास्त्र कहते हैं कि जल, तेज, वायु और आकाश—इन चार तत्त्वोंसे पृथ्वी-तत्त्व बना है। इन चार तत्त्वोंसे पृथक् वस्तु पृथ्वी नहीं है। इसलिये वास्तविक चार तत्त्व हैं। इनमें जलतत्त्वको कहते हैं कि तेज, वायु और आकाशका परिणाम है। इन तीनोंसे पृथक् जल नामका कोई तत्त्व नहीं है। रसायन-शास्त्र भी कहता है कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजनका मिश्रण जल है। अब रहे तीन तत्त्व—तेज, वायु और आकाश। इनमें कहते हैं कि तेज-तत्त्व वायु और आकाशका परिणाम है। वायु (गैस) जलता है, इसका तो हम अनुभव भी करते हैं। अतएव वायु और आकाशके परिणामके सिवा कोई पृथक् तेज-तत्त्व नहीं है। अब वायु और आकाशमें आकाशसे वायु उत्पन्न होता है। अतएव वायु आकाशका परिणाम है और आकाश अमूर्त-तत्त्व है तथा वह आत्मासे उत्पन्न होता है। अर्थात् मूल आत्मासे आकाश पहले उत्पन्न हुआ और इस क्रमसे सृष्टि हुई। अतएव सारा जगत् पंचतत्त्वरूप है और पाँच तत्त्व आत्मासे उत्पन्न हैं। आत्मासे पाँचों तत्त्वोंके उत्पन्न होनेके कारण आत्माके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। इस कारण आत्मा ही पाँच तत्त्वके रूपमें तथा उस आधारपर जगत्के रूपमें अपनी मायाशक्तिसे व्यक्त हो रहा है। आत्मा ही जगत्-रूपमें आभासित हो रहा है। जैसे जल और बुद्बुद पृथक् वस्तु नहीं हैं, बल्कि जल ही वायुके कारण बुद्बुदके रूपमें भासित

होता है। इसी प्रकार आत्मा ही अपनी मायाशक्तिसे जगत्-रूपमें भासमान है; क्योंकि सृष्टिके आदिमें आत्माके सिवा और कोई वस्तु न थी। आत्मा कहें या परमात्मा—वस्तु एक ही है, जो अखण्ड, अजर, अमर, अविकारी और अविनाशी है। प्राणिमात्रके भीतर और बाहर व्याप्त है। वह आत्मा मैं हूँ, इस प्रकारका चिन्तन करना नितान्त सत्य है। यह सहज ही गलेसे नीचे नहीं उतरता, परंतु आज या लाखों वर्ष आगे, यही केवल सत्य है—यह समझे बिना छुटकारा नहीं है।

३४—'मैं आत्मा हूँ'—इस बातमें आपको शंका होती हो तो विचार दृढ़ करके बताइये कि यदि आप आत्मा नहीं तो क्या हैं? आप हैं—इसमें तो कोई शंका नहीं है? मैं हूँ—यह अनुभव सबको होता है। 'मैं नहीं हूँ'—ऐसा कोई नहीं कहता। इस जगत्‌में दो वस्तुएँ हैं। एक आत्मा है—जो नित्य, अविकारी और अविनाशी है और दूसरा अनात्मा—जो दृश्य है, विकारी है और विनाशी है। किसी भी आग्रहसे मुक्त होकर स्वतन्त्रतापूर्वक बुद्धिसे विचार करके देखिये तो आपको ज्ञात होगा कि दृश्य जो विकारी और विनाशी है; वह 'मैं' नहीं हूँ, बल्कि मैं द्रष्टा हूँ। आत्मा द्रष्टा है और जगत् दृश्य है। आत्मा द्रष्टा है और शरीर, इन्द्रिय-मन तथा बुद्धि दृश्य है। आत्मा इनका अनुभव करता है, आत्माका अनुभव ये नहीं कर सकते।

३५—यह तत्त्व सत्य है, पर जबतक यह बात समझमें नहीं आती, तबतक उपासना करता रहे। भक्तिके द्वारा चित्त शुद्ध हुए बिना करोड़ों उपाय करनेपर भी चित्त इस बातको स्वीकार नहीं करता। अतएव किसी-न-किसी सगुण परमात्माकी निष्कामभावसे भक्ति करे, वैसा करनेपर चित्त-शुद्धि होकर बुद्धिमें स्वयमेव आत्मज्ञानकी स्फूर्ति होगी। वैराग्य और ज्ञान—ये दो निष्काम भक्तिके फल हैं। निष्काम भक्ति करते रहनेसे वैराग्य और आत्मज्ञान स्वयं ही फलित होंगे। इसके लिये अधीर होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। कोई क्रिया बाँझ नहीं होती। सकाम भक्ति इच्छित फल प्रदान करती है और निष्काम भक्ति आत्मज्ञान और

वैराग्य प्रदान करती है। इन दोनोंकी प्राप्ति जबतक न हो, तबतक लगे रहना जरूरी है। भक्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाय, वैसे-वैसे निष्काम होता जाय, तब ज्ञान और वैराग्यका प्रादुर्भाव होगा और यदि ये दोनों प्रकट न हों तो निश्चयपूर्वक जान ले कि भक्ति करनेवालेके चित्तमें अवश्य कोई-न-कोई भोग-कामना या वासना भरी है।

३६—इस जगत्के उत्पन्न होनेके पहले एक परमात्मा था। उसके सिवा कोई दूसरा न था। उसकी अपनी माया-शक्तिसे यह दृश्य-जगत् संकल्पमात्र बन गया। दूसरी वस्तु न होनेके कारण या तो वह स्वयं जगत्-रूप हो गया अथवा मायावीके खेलके समान इस सम्पूर्ण जगत्का व्यवहार खड़ा हो गया है, जो असत् है। अतएव या तो जगत्को मिथ्या मायामय मानो अथवा जगत्को परमात्मारूप मानो—इन दोनोंके सिवा तीसरा मार्ग नहीं है। तुम्हारी बुद्धिमें जो जँचे उसे मानो।

३७—तुमको यह शंका होती हो कि 'तुम आत्मा नहीं, जीव हो'—तो शरीरमें जीव नामकी कोई वस्तु जान नहीं पड़ती। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण—ये शरीरसे क्रिया करते हैं और ये भी परमात्माके सामीप्यसे अपना-अपना काम करनेमें शक्तिमान् होते हैं, प्राणिमात्रके शरीरमें परमात्मा तो हैं ही। परमात्मा न हों तो आँखें देख न सकें, कान सुन न सकें, पैर चल न सकें, हाथ लेने-देनेका काम न कर सकें, मन संकल्प न कर सके, बुद्धि निश्चय न कर सके और प्राणका श्वासोच्छ्वास न चले। सबके हृदयमें परमात्मा विराजते हैं। उनकी सत्तासे यह सब चलता है। ब्रह्माण्डकी प्रत्येक क्रिया उनकी सत्तासे होती है। सबके हृदयमें आत्मारूपमें वही बसे हैं। उनके सिवा जीव नामकी दूसरी कोई चीज नहीं है। शास्त्र कहते हैं कि बुद्धिमें आत्मा या परमात्माका जो प्रतिबिम्ब है, वही जीव है अथवा वही 'चिदाभास' कहलाता है। यह प्रतिबिम्ब कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, स्वतन्त्र वस्तु तो बिम्ब है। पानी या दर्पणमें अपनी छाया पड़ती है,

यह छाया कोई व्यक्ति नहीं। छाया अपने बिम्बसे पृथक् व्यवहार नहीं कर सकती। छाया आभासमात्र है, सच्चा तो बिम्ब या व्यक्ति है। इसी प्रकार शरीरमें सच्चा तो आत्मा या परमात्मा ही है तथा जीव अथवा चिदाभास, यह कोई भी सत्य वस्तु नहीं है। अतएव जीव सत्य नहीं है, बल्कि आत्मा सत्य है और वह आत्मा तुम हो। प्रत्येक प्राणीके अन्तःकरणमें परमात्मा ही आत्मारूपमें विराज रहा है। तुम आत्मा हो, यह निश्चय है। यह तुरंत समझमें नहीं आता, परंतु निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति करनेपर भगवान्‌की दयासे विचार करते-करते यह सत्य समझमें आ जायगा।

३८—तुमको यह सत्य जान पड़े या न जान पड़े, परंतु व्यवहारमें इतना तो करो ही, जिसके आचरणसे तुम और तुमसे दूसरे सुखी हों और तुमको स्वयं आत्मदर्शन हो। 'आत्मा अपने और प्राणिमात्रके हृदयमें विराज रहा है। सबका आत्मा एक है, इसलिये किसीका अपमान न करो और किसीको अपनेसे तुच्छ न समझो, किसीको अप्रिय बात न कहो, किसीको धोखा मत दो तथा किसीके साथ कपटव्यवहार न करो।'

३९—'मैं आत्मा हूँ और आत्माका सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है और वही मेरा स्वरूप है। इसलिये आनन्द या सुखके लिये मुझे कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं है।' इस प्रकारके विचारसे ऐसा दृढ़ निश्चय करके अपने सुख या आनन्दके लिये अन्य व्यक्ति या पदार्थकी इच्छा त्याग दो।

४०—शरीरके व्यवहार और आत्माके व्यवहारको अलग कर दो। अर्थात् स्वयं आत्मारूप रहकर शरीरसे शरीरके सारे आनेवाले व्यवहारोंको करो। जैसे नाटकमें राजा बना हुआ पात्र भीतरसे जानता है कि मैं राजा नहीं हूँ, बल्कि वेतनभोगी अभिनेता (नौकर) हूँ तथा भीतरसे जानते और समझते हुए राजाका अभिनय करता है, उसी प्रकार हम अंदर आत्मा हैं, परंतु शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि नहीं

हैं—ऐसा जानते हुए शरीरकी प्रकृतिके अनुसार अंदर समत्वयुक्त रहकर, बिना राग-द्वेषके तथा बिना हर्ष-शोकके, नाटकके खेलके समान सारा व्यवहार करो। यह सहज ही सिद्ध नहीं होता। एक बार पढ़ने और जान लेनेसे तत्त्व जीवनमें नहीं उतरता, बल्कि सतत इसका अभ्यास करना पड़ेगा। बहुत दिनोंसे और अनेक जन्मोंसे यह भूल हो गयी है। इस भूलको दूर करनेके लिये परमात्माकी भक्ति, सत्संग, विचार और वैराग्यके निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता है। इनके बिना किये दूसरा कोई उपाय नहीं है, इसलिये मन लगाकर करते रहना चाहिये।

४१—यह जगत् परमात्माका एक नाटक है। इसमें परमात्मा स्वयं विभिन्न शरीर धारण करके अनेक खेल खेल रहे हैं। सबको अपना-अपना अभिनय करना है। परमात्मा विभिन्न शरीरोंमें आत्मारूपमें विराजमान होकर खेल कर रहे हैं। यह खेल इतना विचित्र है कि इसमें आत्मा अपने रूपको भूलकर जिस वेषमें अभिनय करता है, उस वेषके रूपमें अपनेको मान बैठा और अपने असली स्वरूपको भूल गया है। स्वयं अभिनयकी एकतानतामें भूल गया है, इसको अपने ही विचारसे मूलस्वरूपको याद दिलाना है। मूलस्वरूप याद करके अभिनय करनेसे अभिनयका सुख-दुःख उसको नहीं होगा। यही भेद है और यह बड़ा भेद है।

४२—जैसे नाटकमें अभिनय करनेवाला पुरुष स्त्री बनता है, रोता है, हँसता है, अनेकों प्रकारके अच्छे-बुरे दीखनेवाले काम करता है और सब कुछ करते हुए अंदरसे जानता है कि मैं स्त्री नहीं हूँ, बल्कि मैं वेतनभोगी पुरुष पात्र हूँ। इससे वह सब कर्म करते हुए उनके पाप-पुण्यसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि उसको सदा अपने मूलस्वरूपका भान बना रहता है। वह 'मैं आत्मा हूँ' यह सतत भान रखते हुए शरीरकी प्रकृतिके अनुसार स्वकर्मरूपी अभिनय करता रहे तो पाप-पुण्यका भागी नहीं होता और सदा मुक्त ही रहता है।

४३—प्राणिमात्रके शरीरमें परमात्मा बसते हैं तथा परमात्मा सर्वत्र हैं। जैसे पवन और आकाश सर्वत्र हैं, उसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र हैं; परंतु श्रद्धासे वे प्रकट होते हैं। परमात्माको प्रकट करनेमें एक श्रद्धापूर्वक चिन्तन ही कारण बनता है।

४४—इस जगत्‌में जो दीखता है, सुनायी देता है या अनुभवमें आता है, वह सब संकल्पसे हुआ है। किसी-न-किसी संकल्पसे बना है। तपसे संकल्पशक्ति बलवती होती है। आदिमें परमात्माने संकल्पशक्तिसे सृष्टि की और वह उत्तरोत्तर संकल्पशक्तिसे बढ़ती गयी। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् संकल्परूप है, सत्य नहीं। क्षणिक है और विकारी तथा विनाशी है एवं जगत्‌के अधिष्ठानरूपमें रहनेवाला आत्मा सत्य, अविकारी, अविनाशी एक और अखण्ड है।

४५—सौभरि ऋषि यमुनाके जलमें रहकर तप करते थे। वहाँ उन्होंने मछलियोंको रति करते देखा, उस दृष्टि-संगके दोषसे उनको वृद्धावस्थामें भी तप छोड़कर विवाह करनेकी इच्छा हुई और उन्होंने राजाकी पचास कन्याओंको स्वयं पचास रूप धारण करके ब्याह लिया। अर्थात् एक-एक कन्याको एक-एक ऋषिने ब्याहा। अपने तपकी सिद्धिके प्रभावसे एक सौभरिसे पचास सौभरि हो गये और गृहस्थाश्रम करने लगे। फिर एक परमात्मा अनेक रूप होकर इस संसारको चलाते हैं, तो इसमें आपको क्यों शंका हो रही है?

४६—एक श्रीकृष्णभगवान्‌ने १६,१०८ रूप धारण करके १६,१०८ रानियोंको ब्याहा और उनके साथ प्रत्येक घरमें पृथक्-पृथक् निवास किया। फिर अनन्तशक्ति, सर्वव्यापक परमात्मा अनेक रूप धरकर इस जगद्‌रूपी नाटकको खेल रहा है, इसमें आपको क्यों शंका होती है?

४७—श्रीकृष्णभगवान् एक समय वृन्दावनमें गोपबालकोंके साथ बछड़े चरानेके लिये गये। उस समय ब्रह्माजी उनकी परीक्षा करनेके लिये आये और एक ओर सभी बछड़ोंको हर ले गये तथा दूसरी ओर सब गोपबालकोंको हर ले गये। तब श्रीकृष्णभगवान् उनके सम्बन्धियोंको

राजी करनेके लिये स्वयं ही सब बछड़ोंके रूपमें तथा गोपबालकोंके रूपमें उनके ही वेष और साधन—जैसे वस्त्राभूषण, लकुटी और बाँसुरीसे युक्त हो गये। जड-चेतन सभी रूपोंमें हो गये। फिर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके नाथ परमात्मा यदि इस स्थावर-जंगमरूपमें हो जाते हैं, तो इसमें शंकाकी क्या बात है?

४८—परमात्मा सर्वत्र हैं और परमात्मामें यह सारा जगत् उनकी मायासे भासित हो रहा है तथा यह भासमान जगत् मिथ्या है और एक परमात्मा ही सत्य हैं। यह बात एकदम सत्य है तथा जो सत्य-परमतत्त्व है, वही हम हैं—इसका बारंबार चिन्तन करे।

४९—प्राणिमात्रमें आत्मा है और आत्मामें प्राणिमात्र हैं और वह आत्मा हम हैं, यह नितान्त सत्य है। हम सत्य हैं, जन्म, जरा और मरणसे रहित हैं। यह बारंबार चिन्तन करे।

५०—चित्त आत्माके नामसे तथा शरीरके नामसे अनेक प्रकारकी इच्छाएँ करता है और कर्म भी शरीरसे करता है। आत्मा सदा मुक्त है और आत्मा कोई कर्म नहीं करता और न कोई भोग भोगता है। आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिसे असंग है; अतएव आत्माके लिये चित्त जो करनेके लिये कहे, उसे न करे। वस्तुतः चित्तको कुछ करना-कराना नहीं रहता। आत्मा नित्य है और मुक्त है, सुख-दुःखसे रहित है और शरीरको मृत्युपर्यन्त अपना प्रारब्ध भोगना है, फिर चित्तको करना क्या है? चित्तको शरीरकी प्रकृतिके अनुसार इच्छामात्रसे रहित होकर अपना अभिनय करना है और आत्मा उसका साक्षी है। मैं साक्षी आत्मा हूँ—कर्ता नहीं हूँ, भोक्ता भी नहीं हूँ। जन्म, जरा और मरणसे रहित, नित्य हूँ—इस प्रकारका चिन्तन करता रहे।

५१—हम शरीर बनकर कर्म करते हैं, ऐसा न मानकर आत्मा रहकर शरीरके द्वारा शरीरकी प्रकृतिके अनुसार अभिनय करना है और वह भी असंग बुद्धिसे। लाभ-हानि, हर्ष-शोक, सुख-दुःख—सबमें समानचित्त रहकर प्रकृतिके अनुसार कर्म करते जाओ।

५२—मैं आत्मा हूँ—शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं हूँ; इन सबसे असंग हूँ। इस अभ्यासको सिद्ध करनेके लिये पहले सब प्रकारकी चिन्ताका त्याग करो। प्राणिमात्रको मुख्यत: दो प्रकारकी चिन्ता होती है—मेरी और मेरे सम्बन्धीकी क्या हालत होगी? इस चिन्तासे मन घिरा रहता है; इसलिये मनको निश्चयपूर्वक बतलाओ कि सबको सबके प्रारब्धके अनुसार जो होनेवाला होगा, वह होगा। चिन्ता करनेसे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़नेवाला है। तुम्हारा जो कर्तव्य-कर्म है, उसे किये जाओ। बाकी जो होनेवाला होगा, वह होगा—ऐसा समझकर चिन्ताविहीन और अशान्तिरहित हो जाओ। जलन और चिन्ता करनेसे क्या काम बनेगा? शास्त्र शरीरसे स्वकर्म करनेका निषेध नहीं करता। चिन्ता और उद्वेगरहित होकर प्रसन्न मनसे स्वकर्म करते जाओ; जो तुमसे शान्त मनसे करते बने, वह करो। पर चिन्ता और उद्वेग न करो; क्योंकि इसका कुछ फल ही नहीं है।

दूसरी चिन्ता यह होती है कि शरीरपात होनेके उपरान्त मेरा क्या होगा? ज्ञान और स्व-स्वरूपके स्मरणके बिना इस चिन्ताका शमन नहीं होता। मैं आत्मा हूँ मैं कभी जन्मा नहीं, कभी बद्ध नहीं हुआ, मैं मरनेवाला नहीं हूँ। जन्म, वृद्धि, जरा और मृत्यु तो शरीरके होते हैं और मैं इन सबसे असंग आत्मा हूँ—यह स्मरण नित्य बारंबार करते रहनेसे ही चिन्ता मिटती है। चिन्ताको दूर करनेका इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

५३—'मैं आत्मा हूँ और मैं कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ'—ऐसा निश्चय करके आत्माके नामपर चित्त कर्तापनको करता है और भोगोंकी इच्छा करके भोग भोगता है और नाम लगाता है आत्माका। चित्तके इस सारे करतबको बंद करना है। इस कारण प्रयत्नपूर्वक सब भोगोंकी इच्छाका त्याग करे। भोगकी इच्छाका त्याग किये बिना और 'मैं अकर्ता हूँ' इसका सतत भान रखे बिना 'मैं आत्माके रूपमें सदा मुक्त ही हूँ'—इस मुक्तिका अनुभव चित्त नहीं होने देगा। अतएव भोगकी इच्छामात्रका

त्याग करे और मैं कर्ता नहीं हूँ, बल्कि मैं साक्षी आत्मा हूँ—यह सदा ध्यानमें रखे।

५४—परमात्मा सबमें है और वह सबमें रहनेवाला परमात्मा आत्मा कहलाता है। अतएव सबमें जो आत्मा है, वह परमात्मा स्वयं ही आत्मारूप बना है। परमात्मा सबमें है और सर्वत्र है। जैसे जल जमीनके भीतर है, परंतु जमीनको खोदनेसे मिलता है, उसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र है, परंतु वह श्रद्धायुक्त भक्तिसे ही प्रकट होता है। जैसे काठमें अग्नि है, दूधमें घी है, परंतु वह सहज ही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, बल्कि युक्तिपूर्वक मथनेसे प्राप्त होता है; उसी प्रकार परमात्मा सबमें और सर्वत्र है; परंतु वह श्रद्धापूर्वक भक्ति किये बिना प्रकट नहीं होता, अनुभवमें नहीं आता। वह सबमें और सर्वत्र है; इसलिये जिसमें श्रद्धा बैठे, उस मूर्तिको या व्यक्तिको परमात्मा-स्वरूप जानकर भक्ति करे। यों करनेसे वह प्रकट होगा।

५५—इसी कारण मूर्ति-पूजा सुगम है। परमात्माकी मूर्ति तो है ही नहीं, तथापि साकार मूर्तिमें वह व्यापक है। जहाँ देखो, वहाँ परमात्मा है। ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ वह न हो। ऐसी कोई चीज नहीं, जिसमें वह न हो। उसके बिना जगत्का अस्तित्व ही नहीं है। अर्थात् परमात्मा स्वयं जगद्रूपमें दीखता है। आत्माकी मुक्तिका प्रश्न ही नहीं है। वह तो सदा मुक्त है ही। उसको जन्म, जरा, मृत्यु और विकार—इनमेंसे कुछ भी नहीं होता। प्रयत्न करना है तो केवल मनको; चित्तको शान्त करनेका—चित्तको संकल्परहित, वासनारहित करके परमात्मामें मिला देनेका। इसीका नाम विदेहमुक्ति है। चित्त (सूक्ष्म शरीर)-के ही एक देहसे दूसरे देहमें जानेका नाम संसार है। चित्त ही इच्छा और कर्म करता है। सुख-दुःखको चित्त ही भोगता है। यह चित्त जबतक देह है, तबतक शान्त-संकल्प और वासनाविहीन रहे तथा शरीरसे बिना आसक्ति और आग्रहके शरीरकी प्रकृतिके अनुसार कर्म करे तथा फलकी इच्छाका त्याग करे तो उसको जीवन्मुक्तिका अनुभव होता है।

श्रेयकी साधना करनेवाला भी चित्त ही है। अतएव चित्त इस शरीरसे क्या करे—इसका विचार करना चाहिये।

५६—इस लोक और परलोकके सारे लोकोंमें दुःख भरा है। देह चाहे लौकिक हो या पारलौकिक, वह विकारी और विनाशशील है—ऐसा निश्चय करके इस लोक और परलोकके भोगोंकी इच्छामात्रका त्याग करके, परमात्मा जो घट-घट व्यापक है, उसका नित्य भजन, चिन्तन और स्मरण करे तथा शरीरसे जो कुछ करना हो, वह परमात्माकी प्राप्तिके लिये करे। परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा न करे।

५७—इसके लिये शरीरकी प्रकृतिके अनुसार जो कुछ कर्म हो, उसको कर्तव्य समझकर आसक्तिरहित और बिना फलकी इच्छाके करता रहे। ऐसा करनेसे चित्त शान्त होकर परमात्मामें समयानुसार लीन हो जायगा।

५८—फिर मनमें यदि ऐसा हो कि कर्म ही न करूँ, तो इसके लिये दो विचार करे। एक तो यह कि कर्म किये बिना हठपूर्वक कदाचित् स्थूलशरीर तो कुछ समय बैठा रह सकता है, पर चित्त तो बेकार क्षणभर भी नहीं बैठ सकता और स्थूलशरीरको हठपूर्वक शान्त रखकर मनसे संकल्प-विकल्प करते रहनेका कोई अर्थ ही नहीं है। यदि कुछ आवश्यक है तो चित्तको शान्त करना आवश्यक है। जो चित्तका किया होता है, वही किया हुआ माना जाता है। बाकी जिस कर्ममें चित्तकी आसक्ति, आग्रह या फलकी इच्छा नहीं होती, वैसे शरीरद्वारा किये हुए कर्म चित्तको बन्धनमें नहीं डालते। कर्ममात्रका कर्ता तो प्रकृतिरूप यह शरीर है और शरीर विभिन्न प्रकृतिके बने होते हैं। जैसे गत युद्धमें जर्मन लोगोंने यह निश्चय किया था कि मनुष्यके शरीरके रक्तकी छः जातियाँ हैं। सारांश यह है कि मनुष्यका रक्त इन छः जातियोंमेंसे मुख्यतः किसी एक जातिका होता है। इसी प्रकार शास्त्रोंने यह निश्चय किया है कि प्रत्येक मनुष्य चार जातिमेंसे

किसी एककी प्रकृतिका होता है। जैसे एक जातिका रक्त दूसरी जातिके रक्तवाले मनुष्यमें डाला जाय तो वह दुःखद या घातक हो जायगा, उसी प्रकार एक प्रकृतिका मनुष्य यदि अपनी प्रकृतिके विरुद्ध कर्म करे तो वह दुःखको प्राप्त होता है। अतएव सबको अपने शरीर और मनकी प्रकृतिका निश्चय करके तदनुकूल कर्म करना चाहिये, तभी सुख-शान्ति और आनन्द होगा।

५९—मनुष्य माने या न माने; परंतु जो अपना शरीर है, वह त्रिगुणात्मक प्रकृतिका ही बना हुआ है और इसके अनेक भेद हो सकते हैं, परंतु मुख्यतः चार भेद शास्त्रोंमें लिखे हैं। वे प्रकृतिके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। सात्त्विक गुणप्रधान ब्राह्मण है, जिसमें सत्त्व प्रधान और रजोगुण गौण हो, वह क्षत्रिय है, जिसमें रजोगुण मुख्य और तमोगुण गौण हो, वह वैश्य है तथा तमोगुणप्रधान शूद्र है। प्रकृतिके अनुसार काम करनेसे मन क्षोभरहित और शान्त रहता है और प्रकृति-विरुद्ध कर्म करनेसे मनमें सदा क्षोभ रहता है।

६०—कर्मको लेकर मनुष्य ऊँच-नीच नहीं होता; क्योंकि सबके भीतर प्रभु समानरूपसे विराज रहे हैं। मनुष्य किस प्रकार कर्म करता है, इसे देखकर उसकी अच्छाई-बुराई जानी जाती है। अपने कर्तव्यरूपमें, आसक्ति और आग्रह छोड़कर तथा फलकी इच्छाके बिना, प्राणिमात्रमें अवस्थित परमेश्वरके प्रीत्यर्थ जो कर्म किया जाता है, उस कर्मका कर्ता सदा श्रेष्ठ होता है—फिर चाहे वह भंगीका काम करता हो, खेती करता हो या राज्य करता हो अथवा उपदेशका काम करता हो। कर्म ऊँचा-नीचा नहीं होता, उसका भाव ऊँचा-नीचा होता है, शुद्धभावसे परमात्माकी सेवाके रूपमें जो कर्म होता है, उसका कर्ता सदा श्रेष्ठ है। इस जगद्रूपी नाटकमें चारों वर्णरूपी पात्रोंकी आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्य इस जगद्रूपी नाटकका पात्र है। सब पात्रोंको आसक्ति, अहंता और फलेच्छासे रहित होकर अपना अभिनय

करके जगन्नाटकके स्वामीको प्रसन्न करना है। अतएव अभिनयका जो पार्ट मिला है, उसको ऊँचा-नीचा न समझकर अच्छी रीतिसे अभिनय करना और अभिनय करते समय यह सदा स्मरण रखना कि इस अभिनयसे पृथक् मैं आत्मा हूँ—इसीका नाम योग है।

६१—अपने प्राप्त कर्मको करते हुए चित्तमें विकार न आने दे। शीत-उष्ण, मान-अपमान, जय-पराजय, हर्ष और शोकके प्रसंगमें मनको सदा शान्त और निर्विकार रखे। जिसका चित्त सदा विकाररहित, शान्त और एकरस रहता है, वह जीवन्मुक्त है। विकार उत्पन्न होनेवाले प्रसंगोंमें भी चित्तको निर्विकार रखना ही जीवनका ध्येय है और यही जीवन्मुक्तिका सच्चा अभ्यास है।

६२—सबमें परमात्मा है, परमात्मामें सब है, परमात्मा ही सर्वरूप हो रहा है—ये तीनों निष्ठाएँ जीवन्मुक्तिके अभ्यासके लिये आवश्यक हैं और ये तीनों ही सत्य हैं। मेरे साथ-साथ यह सब कुछ परमात्मस्वरूप है, इस अभ्यासमें उपर्युक्त तीनों अभ्यास सम्मिलित हैं। अतएव यह अभ्यास नित्य करे, यह सबमें श्रेष्ठ साधन है। जो कुछ अनुभवमें आता है, वह सब परमात्मस्वरूप है—यह परम सत्य सिद्धान्त है। इसको अनुभवमें लानेका प्रयत्न करनेका नाम ही सच्चा योगाभ्यास है। जिससे सब परमात्मस्वरूपमें अनुभूत होते हैं, वह सच्ची ज्ञान-निष्ठा है। परमात्माके सिवा दूसरा कुछ सत्य है ही नहीं और जो कुछ भासता है, उसे मृग-मरीचिकाके जलके समान मिथ्या समझे। परमात्मा सत्य है, वह तीनों कालमें अबाधित, एक, अखण्ड, अजर, अमर और सर्वव्यापक है और इसके सिवा उसमें जो कुछ भासता है, वह मिथ्या है। यह चिन्तन सदा करता रहे।

६३—परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, सर्वशक्तिमान् है—यह सभी कहते हैं। यदि परमात्मा सर्वत्र है तो जगत् कहाँ है? जहाँ जगत् होता है, वहाँ परमात्मा नहीं होता और जहाँ परमात्मा होता है, वहाँ जगत् नहीं होता। एक ही जगहमें दो वस्तुएँ नहीं हो सकतीं। तथापि जो दीखता

है, वह दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान, पानीमें छायाके समान, मरुभूमिमें जलके समान तथा जादूगरके झूठे रुपयेके समान मिथ्या दीखता है। इसी प्रकार परमात्मा सत्य है, सर्वत्र है और उसमें यह जगत् मिथ्या भासता है—इस सत्यको जानकर चित्तको सदा अविकारी और शान्त रखकर शरीरसे कर्तव्य कर्म करता रहे और आसक्ति, आग्रह तथा फलेच्छाका त्याग करे।

६४—परमात्मा सर्वत्र है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, वह सब प्राणियोंका अकारण सुहृद् है और वह परमात्मा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। वही प्राणिमात्रका अन्तरात्मा है और वह आत्मा मैं हूँ। यह जान लेनेपर भी मन अनेक जन्मोंके सस्कारोंके कारण इसे मानता नहीं, बुद्धि इसे स्वीकार नहीं करती। हम कैसे हैं? गीता कहती है—जैसी श्रद्धा, वैसा स्वरूप। हमारी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही हमारा आत्मा है। वैसे ही हम हैं। श्रद्धाका आधार बुद्धि है। बुद्धिमें संसार जैसा दृढ़ होता है, वैसी श्रद्धा होती है, इसलिये जबतक बुद्धि शुद्ध न हो जाय, तबतक आत्मज्ञान दृढ़ नहीं होगा, तबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं होगा।

६५—अज्ञानके दूर हुए बिना वासनाका नाश नहीं होता। अज्ञानका पर्दा—मायाका पर्दा दूर करनेके लिये मायापतिकी शरण लेना साधकके लिये बहुत जरूरी है। माया बलवती है, परमात्माकी शक्ति है। उसको जीव अपनी अल्प शक्तिसे जीतनेमें कभी समर्थ नहीं होता। साधकको तो सर्वतोभावेन परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये। जीवात्माका वास्तविक स्वरूप तो परमात्मा ही है, परंतु उसके वास्तविक स्वरूपको पहचाननेके लिये मायाका दूर होना जरूरी है और यह परमात्माके अधीन है। अतएव साधकको चाहिये कि नीचे लिखे गीताके अर्द्ध श्लोकका बारंबार भावपूर्वक उच्चारण करे—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।

अर्थात् मैं उस आदिपुरुष परमात्माकी ही शरणमें जाता हूँ, जिससे इस संसारकी प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है।

परमात्माकी शरण लिये बिना परमात्माकी दया नहीं होती, परमात्माकी दयाके बिना साधक लाखों उपाय करके भी मायाको नहीं जीत सकता, मायासे परे हुए बिना कोटि उपाय करनेपर भी आत्मदर्शन नहीं होता, आत्मदर्शन हुए बिना सारा मोह—अज्ञान कभी दूर नहीं होता और उसके दूर हुए बिना दुःखमात्रका नाश और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मुक्ति मिलती नहीं।

६६—इसलिये साधक अपने शरीरकी प्रकृतिके अनुसार आसक्ति, आग्रह तथा कर्मफलका त्याग करके प्राप्त कर्मोंको करता रहे और उसका फल अच्छा होता है या बुरा—इसको देखे बिना कर्तव्य समझकर करे। जो कुछ करे, कर्तव्य समझकर करे। पूरे उत्साहसे शान्त-चित्तसे भलीभाँति करे। हर्ष-शोकरहित होकर करे। यह बात सहज ही सिद्ध नहीं होती, परंतु प्रयत्न करते-करते प्रभुकी कृपासे हो जायगी।

६७—चित्तमेंसे चिन्ता, भय, राग और द्वेष निकालकर जो कुछ करना हो शान्त और समाहित चित्तसे करे। जिसके करनेसे मनमें चिन्ता हो, उद्वेग हो, भय हो उस कामको कभी न करे।

६८—परमात्मा सबमें है, अतएव जिसके सम्पर्कमें भी आये, उसके भीतर अवस्थित परमात्माकी सेवाके रूपमें उसके साथ बर्ताव करे। जब कोई सम्पर्कमें आये, तब यही एक विचार करे कि प्रभुकी इस वेषमें मुझसे क्या सेवा हो सकती है। इसका विचार करके कर्तव्य समझकर भगवान्‌की पूजाके रूपमें क्रिया करे, इसको भगवत्पूजन या आत्मपूजन कहते हैं। यह पूजा स्त्रीके प्रति हो, बालकके प्रति हो अथवा स्थावर-जंगम प्राणिमात्रके प्रति हो। प्राणिमात्रमें—भूतमात्रमें भगवान् हैं, आत्मा है, अतएव भूतमात्रके प्रति की जानेवाली पूजा भगवत्पूजा—आत्मपूजा है। अतएव किसी भी फलकी आकांक्षा न करके यह पूजा करे। इस साधनासे सारे जीवनमें सब समय भगवत्पूजा या आत्मपूजा होगी और ऐसा करते-करते आत्मदर्शन हो जायगा।

६९—जगत्‌में दो आनन्द हैं—एक विषयानन्द और दूसरा आत्मानन्द। विषयानन्दका अनुभव मन और इन्द्रियोंसे होता है। आत्मानन्दका अनुभव वासनारहित शुद्ध बुद्धिसे होता है। अपने अतिरिक्त अन्य प्राणिपदार्थसे जो आनन्द अनुभव होता है, वह विषयानन्द कहलाता है और जिसमें दूसरे प्राणिपदार्थकी जरूरत नहीं पड़ती, बल्कि स्वतः बिना किसी कारणके आनन्दका अनुभव होता है, वह आत्मानन्द कहलाता है। विषयानन्द नाशवान् है, अल्प है और परिणामी है तथा दुःखदायी है। आत्मानन्द महान् है, शाश्वत है और अखण्ड सुखका दाता है। जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेके हेतु विषयानन्दकी इच्छामात्रका त्याग करके आत्मानन्दका अभिलाषी बने और उसके लिये प्रयत्न करे। अतएव मन और इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको स्वाधीन करके आत्मामें लगा दे।

७०—इसकी साधनाका सहज उपाय यह है कि परमात्माकी कोई दिव्य मनोहर मूर्ति या चित्र लेकर शास्त्रानुसार प्रेमसे, पूर्ण भावपूर्वक उपासना करे और जबतक मन केवल शान्त होकर आत्मानन्दका अनुभव नहीं करे, तबतक इसे चालू रखे, छोड़े नहीं, चाहे अपने-आप भले ही छूट जाय। यह उपासना मनको निर्विषय करनेमें बहुत ही सहायक है। बिना उपासनाके, लाखों उपाय करो, मन शान्त और वासनाहीन नहीं बन सकता।

७१—जबतक इच्छामात्रका त्याग नहीं हो जाता, तबतक उपासना करता रहे। लोकहित करनेकी इच्छा भी एक इच्छा है, वैकुण्ठ प्राप्त करने या दिव्य लोककी प्राप्तिकी इच्छा भी एक इच्छा है। मोक्षकी इच्छा भी इच्छा ही है। जबतक इच्छामात्रका त्याग न हो जाय और आत्मानन्दकी लहरोंका अनुभव न हो, तबतक उपासना कभी न छोड़े।

७२—मूर्ति-उपासना सुलभ है। जीवित प्राणीकी, गुरुकी अथवा किसी महापुरुषकी भी उपासना होती है; परंतु उसमें मन सदा स्थिर,

एकरस, श्रद्धासम्पन्न रहना कठिन है। श्रद्धाके बिना उपासना व्यर्थ है। उपासनाकी नींव ही श्रद्धा है। अतएव सगुण परमात्माकी कोई प्रतिमा या चित्र रखकर उपासना करनेसे शीघ्र लाभ होगा।

७३—मूर्ति या चित्रको एकटक देखा करे। एक अंगके ऊपर दृष्टि डाले रखनेपर आँख और मन थके तो दूसरे अंगके ऊपर दृष्टि जमाये। वहाँ भी थक जाय तो तीसरे अंगके ऊपर दृष्टि जमाये और वहाँ भी थक जाय तो आँखको मूँद ले तथा आँख मूँदनेपर जो दीखे, उसे देखता रहे। फिर आँखें खोलकर मूर्ति या चित्रको देखे। इस प्रकार अभ्यास करता रहे। ऐसा करते समय मन अकुलाने लगे तो जप करे। इस प्रकार ध्यान और जप बारी-बारीसे करता रहे। ध्यानसे थके तो जप करे और जपसे थके तो ध्यान करे।

७४—परमात्माके नामका उच्च स्वरसे कीर्तन करनेसे मनोनाश बहुत शीघ्र होता है। सुर और तालके सहित अकेला या कई आदमी एक साथ मिलकर उच्च स्वरसे कीर्तन करें। कीर्तनसे परमात्माका साक्षात्कार बहुत जल्द होता है। यह सब करते समय कोई आशा, इच्छा या अभिमान तो होना ही नहीं चाहिये। भक्ति करते समय माया या कीर्तिकी इच्छा हो तो वे नाशवान् चीजें मिलेंगी और परमात्माकी इच्छा होगी तो उतने ही या उससे कम ही प्रयत्नसे परमात्मा मिल जायँगे।

७५—परमात्मा सदा सर्वत्र हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं; निष्काम भक्तिसे चित्त स्वच्छ होते ही उसमें तुरंत प्रकट होंगे। जबतक प्रकट नहीं होते, तबतक समझे कि मेरे भीतर कोई-न-कोई मायाकी या कीर्तिकी इच्छा वर्तमान है, इसीसे प्रकट नहीं होते। इच्छामात्रके जाते ही भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं। केवल सावधानीसे देखे कि मन कोई संकल्प या इच्छा तो नहीं करता; करता हो तो उसे बंद करे।

७६—काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों दुःखके द्वार हैं। इन

तीनोंका त्याग करनेवाला भक्त शीघ्र तरता है। काम, क्रोध और लोभका कारण इच्छा है। इच्छाका मूल है विषयोंमें सुख-बुद्धि। विषयोंमें सुख-बुद्धि आत्माके अज्ञानसे होती है। आत्माके अज्ञानका मूल खोज निकालना सम्भव नहीं, परंतु आत्मज्ञानसे उसका नाश हो जाता है और आत्मज्ञान निष्काम भक्तिसे होता है।

७७—जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा स्थित हो रहा है और अन्तमें जिसमें लयको प्राप्त होता है, वह 'परमात्मा' कहलाता है। वह सर्वत्र व्यापक है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है और सबका सुहृद् है। जहाँ दृढ़ भावना और श्रद्धापूर्वक भक्ति की जाती है, वहाँ वह प्रकट होता है। परमात्मा पिंजरेमें तोतेके समान प्राणिमात्रमें नहीं रहता, परंतु जैसे काष्ठमें अग्नि है, जैसे दूधमें घी व्यापक है, जैसे तरंगमें जल है, उसी प्रकार परमात्मा सबमें ओतप्रोत है। अतएव जिस किसी मूर्तिमें मन श्रद्धा और प्रेम करता है, उसी मूर्तिकी उपासना करनेसे उस मूर्तिमें जो अमूर्त परमात्मा है, वह प्रकट हो जाता है। मूर्ति या चित्र परमात्मा नहीं है, यह सभी जानते हैं; परंतु मूर्ति या चित्र अथवा सारे प्राणी-पदार्थोंके शरीरमें अमूर्त परमात्मा व्यापक है। अतएव चाहे जिस मूर्तिकी उपासना करनेपर मूर्तिके बाह्य स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर उपासना न करे; बल्कि मूर्तिमें व्यापक जो अमूर्तस्वरूप, जो परमात्मस्वरूप है, उसको लक्ष्य करके उपासना करे। जैसे मूर्ति चाहे गणेश, हनुमान्, शंकर या देवीकी हो, पर उन सबमें व्यापक परमात्मा है ही। मूर्तिकी शक्ति परिमित है, देव और देवीकी शक्ति सीमित है, पर उनमें व्यापक परमात्माकी शक्ति अपार है। इसी कारण सनातनधर्ममें किसी भी आकारकी मूर्ति हो, उसकी स्तुतिमें परमात्मवाचक शब्द होते हैं। मूर्तिका आकार चाहे जो हो, पर वस्तुतः परमात्मा उस मूर्तिरूपमें स्थित होता है।

७८—काम, क्रोध और लोभको दूर करना आवश्यक है; पर जबतक ये दूर नहीं हों, तबतक परमात्माकी भक्ति ही न करे—ऐसी

बात नहीं है। वे इस प्रकार दूर हटानेसे नहीं हटते, परमात्माकी निष्काम भक्तिसे ही उन्हें निकाला जा सकता है। अतएव साधकको निष्काम भक्ति करते रहना चाहिये और जबतक ये तीनों रहें तबतक भक्तिमें लगे ही रहना चाहिये।

७९—आत्मज्ञान होनेके बाद भी आत्मस्मरण, परमात्मस्मरण चालू रखना चाहिये। साधकके लिये दो ही काम करनेके हैं—एक तो शरीरकी सामर्थ्यके अनुसार कर्तव्य जानकर आसक्ति और फलकी इच्छासे रहित होकर स्वधर्मरूपी कर्म करना और दूसरा हरिस्मरण करना। मनको क्षणभर भी बेकार न रखे। या तो स्वधर्म करे या नाम-स्मरण करे!

८०—जैसे हम बोले बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार मन विचार किये बिना नहीं रह सकता। इसके लिये बारंबार अभ्यास करना पड़ेगा। एक मिनट, दो मिनट, पाँच मिनट—इस प्रकार अभ्यासको बढ़ाता जाय। मनको विचाररहित रखनेकी चेष्टा करनेसे अभ्यास बढ़ेगा। सब साधनोंका एक ही फल है और वह है मनको विचाररहित कर देना। इसको धीरे-धीरे, बिना उतावलीके शान्ति और धैर्यपूर्वक करे।

८१—जैसे हम बोले बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार हम श्वास लिये बिना भी कुछ क्षणोंसे अधिक नहीं रह सकते। बैठे हों या खड़े हों, चाहे जैसे और चाहे जहाँ हों, यह क्रिया हो सकती है। थोड़ी देर श्वास रोककर बैठिये। कोई नाक दबानेकी जरूरत नहीं। जैसे हो वैसे, शान्तिसे बैठिये और श्वास न लीजिये, न छोड़िये। यह क्रिया बिना किसी आग्रह या उतावलेपनके बहुत धीरे-धीरे बढ़ाइये, इससे मन बहुत जल्दी शान्त हो जायगा। इस प्रकार कुम्भक सिद्ध होगा। कुम्भकमें आत्मदर्शन होता है।

८२—सारी इच्छाविहीन क्रिया और सारे सत्कर्म तथा सारी निष्काम भक्तिका एक ही फल आत्मज्ञान है। मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रिय

नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, वरं इन सबसे परे असंग आत्मा हूँ—ऐसा परोक्ष ज्ञान होनेके बाद इसका अभ्यास चालू रखना आवश्यक है। एक क्षण भी आत्मचिन्तनके बिना न रहे। आत्मविचारके बिना कभी मनोनाश नहीं होता और मनोनाशके बिना मुक्ति नहीं होती।

८३—आत्मज्ञानका साधक पहले 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा जानकर पीछे यह जो कुछ दीखता है, यह सब आत्मस्वरूप है, यह जाने और इसका अभ्यास करे। 'मैं' के साथ-साथ यह सब आत्मस्वरूप है, इसका सदा अभ्यास करे। इसके लिये शास्त्रों और संतोंने अनेक भावनाएँ बतलायी हैं, जैसे—

ॐ अहं च सर्वं खलु वासुदेवः।
ॐ अहं ब्रह्मास्मि।
ॐ सर्वं खलु इदं ब्रह्म।

यह अभ्यास सतत और सदा करे। यह सब परमात्मस्वरूप है, मैं भी परमात्मस्वरूप हूँ। सब परब्रह्मस्वरूप है और जो कुछ नाम-रूपवाला जगत् दीखता है, वह मिथ्या दीखता है—जैसे जलमें बुद्बुद दीखता है, मरुभूमिमें जल दीखता है, उसी प्रकार यह भावना नित्य करे।

८४—घर छोड़कर जंगलमें जानेसे मुक्ति नहीं होती। सफेद छोड़कर भगवा पहननेसे मुक्ति नहीं होती। यह त्याग त्याग नहीं है। अहंकारका त्याग ही सच्चा त्याग है। हम देह नहीं हैं तथापि हम अपनेको देह मानते हैं—इस मिथ्या अहंकारका त्याग करना आवश्यक है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन कर्म करते हैं, तो भी हम मानते हैं कि हम कर्म करते हैं। यह सर्वथा मिथ्या है—इस मिथ्या अहंकारका त्याग आवश्यक है। यह त्याग अभ्याससे होगा। मनके इस मिथ्या भ्रमको विचारके बिना कोई दूर नहीं कर सकता। परमात्माकी निष्काम भक्तिसे सत् विचार पैदा होता है और उस विचारके बढ़नेपर सारे कल्याण सिद्ध होते हैं;

इसलिये सत्-विचारका सेवन करे। इसके लिये सत्संगकी विशेष आवश्यकता है। सत्संग जीवित सत्पुरुषसे हो सकता है तथा सद्ग्रन्थोंके पठन-विचार और चर्चासे हो सकता है। इसकी नित्य साधना करे।

८५—यह सारा जगत् आत्मा—परमात्मामें भासित हो रहा है, यह मिथ्या है। मैं आत्मा हूँ—यह निर्णय सत्य है तथा नित्य मनन करनेयोग्य है। आत्मा-परमात्मामें भेद नहीं है। दोनों एक ही वस्तु हैं। चेतन-आत्माके टुकड़े नहीं हो सकते। इसे करे कौन? आत्मा अविकारी और अविनाशी है, अतएव वह व्यापक है। वह आत्मा मैं हूँ। केवल लिंगशरीरकी उपाधिके कारण आत्मा एक होनेपर भी अनेक रूपमें दीखता है, वासनाके नाशसे उस लिंगशरीरका नाश होता है। इसके सिवा करोड़ों उपाय करनेसे भी इसका नाश नहीं होता। स्व-स्वरूपके ज्ञानके बिना, आत्मज्ञान हुए बिना वासनाका नाश नहीं होता। स्व-स्वरूपका ज्ञान निष्काम भक्ति और सत्संगके बिना नहीं होता। इसलिये निष्काम भक्ति और सत्संगका सदा सेवन करे।

८६—परमार्थके इस मार्गमें प्रविष्ट साधक एक बार प्रवेश करनेपर फिर निकल नहीं सकता। कदाचित् कुछ देरके लिये गड़बड़में पड़ जाय, परंतु थोड़े ही समयके बाद फिर रास्ता पकड़ लेता है। अन्तरिक्षमें अदृश्यरूपमें देवता और सिद्ध पुरुष विचरण करते हैं और वे जगत्में इस प्रकारके साधककी सदा सहायता करनेकी प्रतीक्षामें रहते हैं। वे किसी-न-किसी रूपमें आकर किसी प्रकारसे प्रेरणा प्रदान करके साधकको उसके भूले हुए मार्गपर आरूढ़ करा देते हैं, अतएव धैर्य और शान्ति रखकर साधकको साधनामें लगे रहना चाहिये। परमात्माके स्मरणमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह सब विघ्नोंका नाश करके आत्माको परमात्मामें जोड़ देता है। साधन-अवस्थामें आत्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं; परंतु जैसे-जैसे साधन बढ़ता जाता है,

वैसे-वैसे अन्तर घटता जाता है और अन्तमें दोनों एक हो जाते हैं—यह निश्चित है।

८७—क्रिया करनेवाले तो स्थूलशरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिहीन हैं? ये सब आत्माके सामीप्यसे शक्ति पाकर क्रिया करते हैं। हम शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं हैं, बल्कि इन सबके साक्षी तथा इन सबको शक्ति देनेवाले आत्मा हैं। कर्ता और भोक्ता तो ये सब हैं, तथापि हम अपनेको कर्ता और भोक्ता मानते हैं—यह बड़ी भारी भूल है। हम साक्षी हैं और कर्ता-भोक्ता तो प्रकृतिरूप शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका समुदाय है। हम असंग और नित्य हैं और ये सब विकारी, विनाशशील और मिथ्या हैं। हम असंग और इन सबके साक्षी हैं, आत्मस्वरूप हैं—इसका बारंबार मनन करे।

८८—साधक श्वासमें वृत्ति लगाकर श्वासके साथ जप करे, यह अत्यन्त लाभदायक है तथा मालाके बिना भी केवल मनसे जप करे, यह भी बहुत लाभदायक है। इन दोनों प्रकारसे जप करनेसे मन दूसरे विचारोंमें नहीं रमता और तुरंत शान्त हो जाता है। ये दोनों अभ्यास नित्य नियमितरूपसे करने चाहिये।

८९—जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि—ये शरीरको होते हैं, आत्माको नहीं होते। हम आत्मा हैं, शरीर नहीं हैं। शरीर हमारा नहीं है। हममें और शरीरमें कोई सम्बन्ध नहीं। इस बातका बारंबार दृष्टान्त और तर्कद्वारा मनन करे। मनन किये बिना आत्मज्ञान दृढ़ नहीं होता, स्थिर नहीं रहता। इसी प्रकार हर्ष, शोक, क्रोध, भय और चिन्ता तथा मोह और लोभ आदि जो हैं, वे चित्तमें होते हैं, आत्मामें नहीं। हम चित्त नहीं हैं, बल्कि चित्तके भी द्रष्टा साक्षी आत्मा हैं—इस प्रकारका मनन बार-बार करे।

९०—शरीरकी प्रकृतिके अनुसार जो हो सके, वह स्वधर्मरूपी कर्म शान्तचित्तसे, राग-द्वेषरहित होकर और फलेच्छासे रहित होकर करे। चित्तको शान्त और निर्विकार रखकर स्वधर्मरूपी कर्मको करता

जाय। विषयोंमें सुख-बुद्धि होनेसे चित्त कामनायुक्त होता है और कामनायुक्त चित्त अशान्त होता है। अशान्तचित्तमें सुखका अनुभव नहीं होता। जो कुछ करे, वह शान्त चित्तसे करे। सारे कर्मोंके कर्ता तो प्रकृतिरूपी शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं। स्थूलशरीर जड है, इन्द्रियाँ जड हैं, इन सबका प्रेरक अन्त:करण कहलानेवाला चित्त है। अर्थात् चित्त कर्ता और भोक्ता है तथापि हम उस चित्तका संग करके अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर सुख-दु:खका अनुभव करते हैं। हम चित्त नहीं हैं, चित्त अपना नहीं है। चित्तसे और अपनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार चित्तका त्याग करे और यह त्याग ही सच्चा त्याग है।

९१—साधक प्राणिमात्रको अपना स्वरूप या मित्र मानकर तदनुसार सबके साथ उत्तम बर्ताव करे। चींटीसे लेकर ब्रह्मातक सारे प्राणियोंके शरीर पंचभूतके बने हैं और सबमें आत्मा है। जैसे हम हैं वैसे सब हैं। अपना शरीर पंचमहाभूतोंका है, सबका शरीर पंचमहाभूतोंका है। अपने शरीरमें आत्मा है और सबके शरीरमें आत्मा है, हम शरीर नहीं हैं, बल्कि आत्मा हैं। वैसे ही, वे भी शरीर नहीं हैं, बल्कि वास्तविक रूपमें आत्मा हैं। हमारा शरीर विकारी और विनाशशील होनेके कारण केवल दिखावामात्र है और मिथ्या है, वैसे ही सबके शरीर विकारी और विनाशशील होनेके कारण दिखावामात्र और मिथ्या हैं। अपने शरीरमें स्थित आत्मा सत्य और शरीर मिथ्या है, इसी प्रकार सबके शरीरमें स्थित आत्मा सत्य और शरीर मिथ्या है। इससे ज्ञात हो जाता है कि आत्मा हमारे भीतर और सब शरीरोंके भीतर नित्य और सत्य है तथा शरीरमात्र मिथ्या है। नित्यमुक्त, अविकारी और अविनाशी, अखण्ड और व्यापक आत्मा सब शरीरोंमें विभिन्न-सा भासता है, परंतु वास्तवमें एक ही है। आत्मारूपी महासागरमें तरंगरूपी शरीर मिथ्या भासते हैं। वास्तविक आत्मा एक और अखण्ड है और वह आत्मा सबका साक्षी एक मैं हूँ। यह परम सत्य है। इसका बारंबार चिन्तन करे। चित्तके

लिये यह समझना कठिन जान पड़ेगा, परंतु यह पूर्ण सत्य है। अतएव इसमें श्रद्धा रखकर बार-बार तर्कपूर्वक इसका चिन्तन करे।

यह अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे शरीर और इन्द्रियोंसे कर्म करते रहनेपर भी मन पूर्ण शान्त रहेगा। इस प्रकार समाहित—शान्त हुए मनको शान्त रहने दे। इस स्थितिमें शरीरसे जो कर्म होता है, वह बन्धनकारक नहीं होता।

९२—आत्मा कभी जन्मा नहीं, उसकी मृत्यु भी नहीं है। पहले कभी जन्मा नहीं था और आगे जन्मनेवाला नहीं है। उसके प्रारब्ध कर्म नहीं हैं। कर्ममात्रका कर्ता तथा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाला तो चित्त है, आत्मा नहीं। आत्मा तो सदासे है और सदा रहेगा। सर्वत्र है, निरंजन, निराकार, निर्विकार है। मुक्ति आत्माकी नहीं, चित्तकी होनेवाली है। आत्मा तो कभी बन्धनमें आया ही नहीं, वह तो सदा ही मुक्त है। प्रयत्न करके जो कुछ करना है, वह है चित्तको आत्मामें लय करना। चित्तसे ही यह संसार है, चित्तसे ही ये जन्म-मृत्यु तथा चित्तसे ही ये सुख-दुःख हैं। यह चित्त कैसे पैदा हुआ, यह विचार करना आवश्यक नहीं है, इसका पार पाना कठिन है। बल्कि पुरुषार्थ इसलिये करना है कि जिससे वह चित्त किसी प्रकार मरकर आत्मामें विलीन हो जाय। चित्तके मरनेका नाम मुक्ति है। चित्तके जीवित रहनेका नाम संसार है। जैसे स्त्रीकी खुराक पतिके साथ विषय-भोग है और इससे वह पुष्ट होती है, इसी प्रकार चित्तकी खुराक भोग-वासना है और इसीसे वह पुष्ट होता है तथा फूलता-फलता है। भोग-वासना नष्ट होनेपर चित्त दुर्बल हो जाता है और अन्तमें क्षीण होकर आत्मामें लीन हो जाता है। भोगकी इच्छाका नाश किये बिना वासनाका नाश नहीं होता तथा भोगोंमें सुख-बुद्धिका नाश हुए बिना और दुःख-बुद्धि हुए बिना भोगोंकी इच्छा शान्त नहीं होती। इस चित्तको शान्त करने और भोगोंमें सुख-बुद्धिका त्याग करनेमें विचार और सत्संगके सिवा कोई जप, कोई तप या तीर्थयात्रा विशेष काम नहीं देते। इसलिये

आत्मविचार, सत्संग और हरिस्मरणका नित्य सेवन करे। एक क्षण भी स्मरण बिना न रहे। आत्माको कर्म बन्धनमें नहीं डालता, अज्ञानसे आसक्ति होती है और वह बन्धनकर्ता है, इसके लिये निम्नलिखित अर्द्धश्लोक बारंबार उच्चारण तथा मनन करे।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

अर्थात् कर्म मुझको लिप्त नहीं कर सकते, कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है।

मैं शरीर नहीं हूँ, किन्तु तीनों शरीरोंका साक्षी हूँ, आत्मा हूँ—यों बारंबार निश्चय करे। मैं साक्षी हूँ, मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ—इसका चिन्तन करे।

९३—जगत्में दो चीजें हैं—एक द्रष्टा और दूसरा दृश्य। जो दृश्य है, वह विकारी और विनाशशील है, इसलिये मिथ्या है और जो द्रष्टा है, वह नित्य, अविकारी और अविनाशी है। हम द्रष्टा हैं; क्योंकि दृश्यको हम जानते हैं। जो द्रष्टा होता है, वह दृश्य नहीं होता और जो दृश्य होता है वह द्रष्टा नहीं होता। प्रथम साधक शरीरका द्रष्टा होता है और यह अनुभव दृढ़ होनेपर स्वयं अभ्यासके द्वारा सारे जगत्का द्रष्टा हो जाता है। मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा अनुभव होने लगता है। यह अभ्यास सहज नहीं है। मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ—यह चिन्तन सदा करे। एक क्षण भी इस चिन्तनके बिना मनको न रखे। (इस पारमार्थिक मार्गके) प्रत्येक अभ्याससे मनमें ऐसी शक्ति आती है कि वह जो चिन्तन करता है, उसकी प्राप्ति होती है। इस कारण यह अभ्यास करते हुए यदि मायिक चिन्तन करता है तो मुक्तिका साधन अपूर्ण रह जाता है और साधक जन्म-मरणके चक्रसे नहीं छूटता।

९४—साधन दो कारणोंसे अधूरा रहता है—एक तो मायिक इच्छा होनेसे और दूसरा साधन पूर्ण होनेके पूर्व ही शरीरान्त हो जानेसे। यदि ऐसा होता है तो साधक पवित्र तथा श्रीमंत परिवारमें जन्म लेकर वहाँ इच्छानुसार भोगोंको भोगता है और वहीं पूर्वजन्मके साधनको चालू

रखता है। यदि मायिक वासना जाग्रत् न हुई और साधना शरीरान्त होनेके पहले पूर्ण न हुई तो वह साधक या सिद्ध योगीके घर जन्म लेता है और उसकी सहायतासे अपनी साधना आगे बढ़ाता है। किन्तु यह मार्ग ऐसा है कि इसमें एक बार प्रवेश करनेवालेकी मुक्ति जल्दी या देरसे अवश्य होती है। इसलिये साधकको शान्ति और धैर्यपूर्वक साधनामें लगा रहना चाहिये।

९५—मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकको द्रव्योपार्जन करनेका व्यवसाय छोड़ देना चाहिये। केवल पेट भरनेके लिये किसी प्रकारसे व्यवस्था कर ले। दूसरी सारी कामनाओंका त्याग करे। मैं दूसरोंकी भलाई करूँ—यह भी एक प्रकारकी कामना है। जो विश्वम्भर है, वह जगत्में जिस समय जैसी आवश्यकता होती है, वैसा कर रहा है। दूसरी बात यह है कि स्त्रीका और सांसारिक पुरुषोंके सहवासका त्याग करे। एकान्तमें रहे। प्राकृतिक दृश्यके बीचमें रहे। संगसे कामना जागती है और पतन होता है। राजर्षि भरत संगके कारण मृगयोनिको प्राप्त हुए थे। सौभरि ऋषि जलमें बैठकर तप करते थे, वहाँ मछलीके जोड़ेका मिलन-प्रसंग देखकर विवाह करनेके लिये तैयार हो गये और ५० रूप धारण करके ५० कन्याओंसे ब्याह किया। इस कारण साधक विषयानन्दी स्त्री-पुरुषोंका कभी साथ न करे। मौनका अभ्यास करे तथा एकान्त सेवन करे। मनको सदा आत्मचिन्तनके अभ्यासमें लगाये रखे, कभी बेकार न रहने दे। आहार सदा सादा तथा अल्प करे और आत्मनिष्ठ पुरुषका—आत्माराम पुरुषका सदा संग करे।

९६—भगवान् श्रीकृष्ण जब गोपबालकोंके साथ बछड़े चराने गये, तब ब्रह्माजी उनकी परीक्षा करनेके लिये एक ओर बछड़ोंको और दूसरी ओर गोपबालकोंको चुराकर ले गये। यह जानकर भगवान् एक होकर भी, उनके माता-पिताको प्रसन्न रखनेके लिये स्वयं सारे बछड़े और सारे बालकोंके रूपमें प्रकट हो गये। वस्त्र, लकुटी, बाँसुरी—जैसा जिनका रूप, रंग और स्वभाव था, वह उनके स्वरूपमें सर्वरूप हो गये।

स्थावर-जंगम-सर्वस्वरूप हो गये। एक सौभरि ऋषिने ५० रूप धारण करके ५० कन्याओंसे ब्याह किया और ५० कन्याओंके साथ ५० रूप होकर रहे। एक श्रीकृष्णभगवान्ने १६,१०८ कन्याओंके साथ १६,१०८ रूप धारण करके ब्याह किया और १६,१०८ रूप धारण करके रहे। वे जैसे एक होते हुए भी अनेक हो गये, फिर भी एकके एक ही रहे, उसी प्रकार परमात्मा एक होते हुए भी अनेक स्थावर-जंगमरूप होकर विलसित हो रहे हैं। वे परमात्मा एक और अनन्त होकर भी अनेक रूपोंमें भासित हो रहे हैं। सारा जगत् परमात्मस्वरूप या आत्मस्वरूप ही है। सर्वत्र आत्मा, परब्रह्म परमात्मा विलसित हो रहे हैं। इसमें जो नाम और रूप है, वह मिथ्या है। इस नाम और रूपके अणु-अणुमें व्यापक जो आत्मा है, वह सत्य है और वह आत्मा मैं हूँ—इस प्रकार सदा चिन्तन करता रहे। विषयानन्दी होनेपर साधक विषयोंको प्राप्त होगा और जन्म-मरणके प्रवाहमें बहेगा। इसलिये विषयानन्दी न रहकर आत्मानन्दी बननेका अभ्यास करे, जिससे वह मुक्त हो जायगा।

९७—प्रत्येक शरीरमें जो व्यापक चेतन-तत्त्व है, वह आत्मा कहलाता है और ब्रह्माण्डमें जो व्यापक चेतन-तत्त्व है, वह परमात्मा कहलाता है। आत्मा और परमात्माके बीच कोई अन्तर नहीं है। एक और अखण्ड होनेपर भी मानो पृथक्-जैसा भासता है। जैसे आकाश एक और अखण्ड है तथापि प्रत्येक वस्तुमें आकाश पृथक्-जैसा भासता है। इसी प्रकार एक ही अखण्ड व्यापक परमात्मा प्रत्येक शरीरमें मानो पृथक्-पृथक् आत्मा हो, ऐसा भासता है। मैं आत्मा हूँ, तीनों शरीरोंसे भिन्न और असंग हूँ—इसका दृढ़ ज्ञान होनेपर भी इस आत्मचिन्तनका अभ्यास निरन्तर चालू रखना चाहिये। जैसे नदी जबतक सागरमें मिलकर सागररूप न हो जाय, तबतक उसका प्रवाह चालू रहता है; इसी प्रकार मैं आत्मा हूँ—यह चिन्तन, परमात्मरूप न हो जाय, तबतक चालू रखना चाहिये। इसमें यदि विक्षेप पड़ा तो पतन हुआ समझो।

९८—मोक्षके साधकको मौन, एकान्तवास, मिताहार और धन तथा स्त्रीके संगका त्याग—इनका आग्रहपूर्वक सेवन करना चाहिये। सांसारिक जनका संसर्ग मनुष्यको सांसारिक बनाता है। त्यागीका संग त्यागी बनाता है। साधक जैसा संग करता है, वैसा ही बनता है। मुक्तिकी इच्छा करनेवाला साधक मुक्तका संग करे। संसारमें रहना, काम-धन्धेमें लगा रहना और मुक्तिकी इच्छा करना यह कभी बन नहीं सकता। साधकको यह सब त्याग करना चाहिये। साधन सिद्ध हो जानेके बाद संसारमें, व्यवहारमें रहे या नहीं—यह और बात है। राजा जनकका तथा दूसरे विदेही राजर्षियोंका दृष्टान्त व्यवहारमें रहनेके पक्षमें दिया जाता है। वे महापुरुष पूर्वजन्मके पक्के साधक थे, कुछ बाकी रह गया था, जिसके लिये अवतरित हुए थे। उनका उदाहरण साधारण साधकके लिये कामका नहीं है। प्रत्येक प्राणी जहाँ जाता है, वहाँ अपने साथ वह अपने चित्तके संस्कारके वातावरणको लेता जाता है। इसीसे कुछ प्राणियोंके संसर्गमें आनेपर उनके प्रति मेल नहीं खाता, कुछ प्राणियोंके प्रति प्रेम होता है और कुछके प्रति क्रोध होता है। राजसी और तामसी प्रकृतिवालेके संसर्गसे चित्तमें क्षोभ होता है। यही बात आहारकी है। अतएव कल्याणकी इच्छा करनेवालेको सात्त्विक आहार, सात्त्विक प्राणीका संसर्ग, सात्त्विक स्थानका सेवन करना चाहिये, जिसके सेवनसे चित्त शान्त रहे। जिससे चित्तमें क्षोभ हो, उसका संग कभी न करे।

९९—साधक जो कुछ करे वह पूर्ण शान्तिसे, उत्साहपूर्वक और आनन्दपूर्वक करे। जो कुछ करे वह आवेश या आग्रहसे रहित होकर, फलेच्छा और आसक्तिसे रहित होकर कर्तव्य समझकर करे। जिस प्रकार नाटकमें कोई अभिनेता अपने स्वरूपको भुलाये बिना अपने जिम्मेका अभिनय करता है, उसी प्रकार हमारे आत्माने शरीररूप जो स्वाँग लिया है, इसको जो अभिनय करना है, उसे नाटकके पार्टके समान अभिनय करे। इस साधनको सिद्ध करनेकी एक प्रक्रिया यह

है कि जो कुछ करे, वह इस भावसे करे कि वह यहाँ मेहमान है, किसीके साथ कोई उसका सम्बन्ध नहीं है। आसक्ति और कर्तापनके अभिमानके बिना, कर्म करनेसे बन्धन नहीं होता। कर्तापनका अभिमान और कर्मके फलकी आसक्तिसहित इच्छा ही बन्धनकारक है। मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ—इस प्रकारका जो 'मैं' है, वह बन्धनकारक है। मैं और मेरापनका त्याग ही सच्चा त्याग है और इस त्यागसे नित्य प्रसन्नता रहती है।

१००—जैसे नदी समुद्रमें मिले बिना कभी नहीं कह सकती कि 'मैं समुद्र हूँ'—उसी प्रकार साधक परमात्मामें मिले बिना नहीं कह सकता कि मैं सर्वस्वरूप-परमात्मस्वरूप हूँ। 'मैं तीनों शरीर नहीं हूँ और उन सबसे भिन्न मैं आत्मा हूँ'—इस प्रकारका अभ्यास ही उसको धीरे-धीरे परमात्मस्वरूपमें मिलाकर एक कर देता है। नदी जलरूप है, सागर जलरूप है। नदी वेगसे सागरकी ओर बहती है, तब वह जिस प्रकार सागरमें मिलकर एक हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्माका वस्तुतः एक स्वरूप है, तथापि चिन्तन किये बिना एक नहीं हो सकता; क्योंकि दोनोंके बीचमें लिंगदेहरूपी वासनाकी आड़ है। यह वासना आत्मज्ञान हुए बिना निःशेषरूपसे नष्ट नहीं होती तथा सदाचार और ईश्वरकी भक्तिके बिना यह आत्मज्ञान नहीं होता।

१०१—सर्वत्र एक परमात्मा ही अनेक रूप धारण करके विलसित हो रहा है। हरि ही जगत्-रूप हो रहे हैं। हरि ही जगत् है और जगत् हरि है। विकारी और विनाशशील शरीरोंमें जो अविकारी और अविनाशी चेतन-तत्त्व है, वही परमात्मा है। साधक सबको आत्मरूप, परमात्मरूप देखे और प्राणिमात्रको परमात्मरूप जानकर अपने साधन, शक्ति और संयोगके अनुसार बिना किसी फलकी इच्छाके उनकी सेवा करे। इस प्रकारकी सेवा और स्मरण—ये दो ही साधकके काम हैं। चित्तको या तो सेवामें लगाये रखे या स्मरणमें। चित्त सेवा और स्मरणरहित रहेगा तो जरूर अनर्थ करेगा।

१०२—चित्तका सदा शान्त और विकारके हेतु रहते हुए भी निर्विकारी रहना—यही ज्ञान और निष्काम भक्तिका फल है। कैसा भी विकार उत्पन्न करनेवाला प्रसंग प्राप्त होनेपर जिसका चित्त निर्विकार रहता है, वह मुक्त है। आत्मज्ञानके बिना यह सुलभ नहीं है। साधक जो करे, वह शान्तचित्तसे, प्रसन्नमनसे, चिन्ता, उतावलापन और भयसे रहित होकर करे। जिससे चिन्ता हो, वह काम कभी न करे; जिसका परिणाम दुःखदायी हो, वह काम कभी न करे।

१०३—सुख नामका, मोक्ष नामका या आनन्द नामका कोई पदार्थ नहीं है, जो प्राप्त हो सके। यह तो ठीक है कि जो कुछ दीखता है, भासता है और अनुभवमें आता है, वह सब पंचतत्त्वका बना है। पंचतत्त्वकी परम्परा देखनेसे वह परमात्मासे ही उत्पन्न हुआ दीखता है। जिससे जो पैदा होता है, वह उसका स्वरूप होता है। इसलिये जो कुछ दीखता है या अनुभवमें आता है, उसको पहले तो पंचभूतात्मक जाने, पश्चात् पंचभूत परमात्मस्वरूप हैं, यह निश्चय करके सारा दृश्यमान जगत् परमात्मस्वरूप ही है—यह निश्चय करे। इसमें नाम और रूपको कल्पित, मिथ्या और नाशवान् समझे और जो तत्त्व नाम-रूपके स्वरूपमें दीखता है, उस तत्त्वको परमात्मा जाने। अग्नि जैसे लकड़ीके रूपमें दीखती है, सोना गहनेके रूपमें दीखता है, जल बुद्बुदके रूपमें दीखता है, उसी प्रकार परमात्मा ही जगत्-रूपमें दीखता है। अतएव 'मैं' के सहित सब कुछ हरिरूप है, 'मैं' के सहित सब परमात्मरूप है—यह अभ्यास करे, जो वास्तविक है और शास्त्रका निष्पक्ष अन्तिम निश्चय है। परमार्थपथका कोई भी साधन करनेसे ज्ञान और वैराग्य प्रकट होंगे, वे यदि निष्काम और मोक्षके हेतु होंगे तो विषयोंमें सुख-बुद्धि जैसे-जैसे घटती है और संसारसे अरुचि होती है, वैसे-वैसे जानना चाहिये कि साधना सफल हो रही है। इसके लिये खूब आदरपूर्वक लगा रहे और समय आनेपर जैसे अपने-आप नदी समुद्रमें मिलकर

समुद्ररूप हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मामें मिलकर परमात्मरूप हो जाता है।

१०४—जबतक शरीर और जगत्का भान होता है, तबतक नीचे लिखे अनुसार अभ्यास अवश्य करे—

(१) प्रणवका या परमात्माके किसी भी नामका नित्य जप अवश्य करे। (२) मैं शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं हूँ, बल्कि मैं आत्मा हूँ, सबका साक्षी हूँ। सबसे असंग, अविकारी और अविनाशी आत्मा हूँ—इस प्रकार सदा चिन्तन करे। (३) देव, द्विज, गुरु और ज्ञानी पुरुषका आदर-सत्कार और सेवा करे। पवित्र रहे। मनके विचार, वाणी और आचरणको एकरूप रखे। ब्रह्मचर्यका पालन करे। किसीको दुःख हो ऐसा काम कभी न करे। (४) सत्य और प्रिय वचन बोले। (५) सदा मनको शान्त और प्रसन्न रखे। जो करे, जो बोले, वह प्रसन्न और शान्तमनसे करे और बोले। घबराहट, क्लेश और विवादका पूर्ण त्याग करे। सदा सब अवस्थाओंमें और सब संयोगोंमें जिस प्रकार मन प्रसन्न रहे, उस प्रकार बर्ताव करे। जिसका मन सदा प्रसन्न रहता है और जिसका मन चाहे कैसा ही प्रलोभन आनेपर भी विकारके वश नहीं होता, वह सदा मुक्त ही है।

१०५—भगवान्की मूर्ति या चित्रकी पूजा साधकके लिये बहुत उपयोगी है। जबतक शरीर जीवित है, तबतक थोड़े-बहुत प्रमाणमें देहाध्यास रहता ही है और जबतक देहाध्यास रहता है, तबतक सगुण उपासना बहुत सुलभ होती है। परमात्मा सगुण भी है और निर्गुण भी है। साकार भी है और निराकार भी है। जबतक देहाभिमान पूर्णरूपसे चला न जाय और जबतक आशा और इच्छाका पूर्ण त्याग न हो जाय, तबतक सगुण उपासना करे। सगुण उपासनामें अद्भुत शक्ति है। उसमें उपासकको गिरनेका तो भय ही नहीं होता। केवल उसे सर्वभावसे, पूर्ण श्रद्धासे परमात्माकी शरण लेनी पड़ती है। उसका इतना ही काम होता है, बाकी सब कुछ प्रभु करते हैं। उसकी सारी सँभाल परमात्मा रखते

हैं। परमात्माकी अनन्य शरण लेनेवाला परमात्माकी उपासना सकाम-भावसे करे तो भी बन्धन नहीं होता। उसे किसी-न-किसी प्रकार परमात्माकी भक्ति करनी चाहिये।

सकाम भक्ति भी करते रहनेसे धीरे-धीरे वह भक्ति निष्काम हो जाती है और इस रीतिसे भी भक्तिको चालू रखनेसे वह अपने-आप निर्गुण-निराकारमें पर्यवसित हो जाती है। अतएव सगुण उपासना, सकाम हो या निष्काम हो, उसके करनेमें कोई जोखिम नहीं है। इसमें गिरनेका कोई भय नहीं है। भक्तकी सारी सँभाल भगवान् स्वयं रखते हैं। भगवान्‌के सिवा न दूसरेकी शरण ले और न दूसरेका चिन्तन करे।

१०६—यह जगत् संकल्पसे बना है। जितना दृढ़ संकल्प होता है, उतना दृश्य बनता है। इसलिये साधकको सदा अच्छी भावनावाला संकल्प करना चाहिये। इस दृश्य-जगत्‌में सुख है ही नहीं। सुख दीखता है, पर भोगने जाओ तो परिणाममें दुःख ही पल्ले पड़ता है। जैसे कस्तूरी-मृगकी नाभिमें कस्तूरी रहती है और उसकी उसको सुगन्ध आती है, परंतु वह जानता नहीं है कि वह सुगन्ध कहाँसे आ रही है। इस कारण वन-वन घासमें कस्तूरीकी सुगन्धकी खोज करता है कि वह कहाँसे आ रही है, पर वह उसको दूसरी जगह नहीं मिलती। वह तो उसकी नाभिमें है। वह व्यर्थ ही दूसरी जगह खोजता है और थककर दुःख भोगता है। इसी प्रकार चित्त आनन्दको ढूँढ़ता है। आनन्दस्वरूप आत्मा तो चित्तके भीतर है, इसे न जानकर जगत्‌के प्राणी-पदार्थमें आनन्दको खोजता है। पर दूसरी जगह वह है नहीं तब मिलता कहाँसे? प्राणी-पदार्थ, जो संकल्पसे बने हैं, विकारी और विनाशी हैं, इनमें आनन्द होगा कहाँसे? तथापि मायासे ऐसा लगता है कि इनमें आनन्द होगा। मायाका स्वरूप ही यह है कि नहीं होते हुए दीखता है और दीखनेपर पास जाओ तो लुप्त हो जाता है। मायाके स्वरूपको अखा भक्तने कहा है—

अखा माया करे फजेत।
खातां खांड ने चाबतां रेत॥

मरीचिकाका जल दूरसे दीखता है, दौड़कर लेने जाओ तो कुछ न मिलेगा। अखा भक्तने सरस उपमा दी है—खानेमें खाँड़ (चीनी)-सी दीखती है, पर मुँहमें डालकर चबाते समय रेत (बालू)-सी लगती है, इसका नाम माया है। इसलिये इस मायिक जगत्के प्राणी-पदार्थसे सुख-आनन्द प्राप्त होनेकी तृष्णा त्यागकर आनन्दस्वरूप आत्मामें चित्तको लगावे।

जगत्में जितने भी प्राणी-पदार्थ हो गये हैं, सब कालके वश होकर मर गये। मुर्देको जिलानेवाला भी मर गया। सुखके लिये अनेक जीवोंने जगत्में परिश्रम करके भी सुखके बदले दुःख पाया और वे सब अन्तमें मर गये। सुखमात्र-स्वरूप, केवल आनन्दस्वरूप, अविकारी और अविनाशी सदा नित्यमुक्त एक आत्मा ही है। शेष सारे दृश्य मायामय, विकारी और विनाशी हैं। वह आत्मा तुम हो। इसलिये चित्तको सर्वभावसे आत्मामें जोड़ दो। सिनेमाके पर्देके ऊपर जैसे फिल्मरूपी सृष्टि दीखती है, सुननेमें आती है; परंतु वस्तुतः वहाँ पर्देके सिवा कुछ भी नहीं रहता। उसी प्रकार आत्मारूपी पर्देके ऊपर फिल्मके बिना ही परमात्माकी मायासे यह सृष्टि दीखती है। परंतु वस्तुतः आत्माके सिवा कुछ भी सत्य नहीं है। वह आत्मा तुम हो। महासागरमें वायुके कारण जैसे अनेक विविध विचित्र लहरें उठती हुई दीख पड़ती हैं, परंतु वस्तुतः वहाँ जलके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं होती। उसी प्रकार आत्मामें मायाके कारण यह विचित्र दृश्य-जगत् दीखता है, परंतु वस्तुतः आत्माके सिवा कुछ भी सत्य नहीं है। वह आत्मा तुम हो। इसलिये सदा आत्मचिन्तन करो। सदा चित्तको आत्मामें जोड़ो।

१०७—देश, काल, वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—इन पाँचोंका चित्तके ऊपर प्रभाव पड़ता है। ये पाँचों सात्त्विक, राजस और तामस—तीन गुणवाले हैं। इनमें जिसके संसर्गमें चित्त आता है, वैसा वह हो

जाता है। इस प्रकार चित्त सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतिवाला बनता है और जिस प्रकारके संस्कारसे युक्त होता है, वैसी ही क्रिया करता है। इसलिये चित्तको आत्मज्ञानकी इच्छावाले सात्त्विक संस्कारका सेवन करके सात्त्विक बनावे। पश्चात् उसको आत्मासे युक्त करके आत्माके संस्कारसे निर्गुण बनावे। यह संसार त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे बना है। कर्ता-भोक्ता सब रूपोंमें प्रकृति ही अनेक आकार धारण कर रही है। आत्मा तो असंग, साक्षी, नित्यमुक्त, अविकारी और अविनाशी है। इसका तुम रात-दिन चिन्तन किया करो। वह आत्मा तुम हो। तुम कर्ता नहीं हो, भोक्ता नहीं हो। तुम स्थूल, सूक्ष्म या कारण शरीर नहीं हो। तुम इन सबके द्रष्टा, नित्यमुक्त, अविकारी आत्मा हो—इसका बारंबार मनन किया करो। स्व-स्वरूपको जानकर उसका हरदम मनन और निदिध्यासन किये बिना आत्मसाक्षात्कार नहीं होता और आत्माका दर्शन हुए बिना जीवन्मुक्तिका अनुभव नहीं होता तथा जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा नहीं मिलता। अतएव सुख या अखण्ड आनन्दके लिये दूसरी खोज न करके, सुखकी अभिलाषाकी इच्छामात्रका त्याग करके सदा आत्माराम बनकर आनन्दसे कालयापन करो। वह सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा तुम हो, जो घट-घटमें व्याप रहा है तथा जिसमें यह सारा दृश्यमात्र भासित हो रहा है।

१०८—इस १०८ मनिकाकी मालाका एक ही रहस्य है और वह यह है कि आत्मा स्वयं नित्य, अविकारी और अविनाशी, व्यापक, अजर-अमर होकर भी अपनेको व्यर्थ ही विकारी और विनाशी, स्थूल शरीर मानकर दु:ख और शोकसे युक्त तथा जन्म-मरण धर्मवाला मान बैठा है। जबतक वह इस अज्ञानसे छूटकर अपने स्व-स्वरूपके भानवाला तथा उसमें दृढ़ निष्ठावाला नहीं बन जाता; तबतक उसे जन्म-मरण, जरा-व्याधिसे आत्यन्तिक छुटकारा नहीं मिल सकता और अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उस ज्ञानके लिये चित्तशुद्धिकी जरूरत है और परमात्माकी निष्काम भक्ति किये बिना

चित्तशुद्धि नहीं होती। चित्तशुद्धिके लिये शास्त्रोंने अनेक उपाय बतलाये हैं, उनमें सात्त्विक आहार, सात्त्विक वस्तुका सेवन, शास्त्र-विचार, सद्गुरुकी सेवा, परमात्माके सगुण-साकार-विग्रह या चित्रकी सेवा, परमात्माके नामका जप और कीर्तन, प्राणिमात्रको आत्मारूप जानकर उनके प्रति वैसा बर्ताव करना, सत्य और प्रिय भाषण करना, मौन, एकान्तवास, प्राणायाम तथा चित्तको संकल्परहित अवस्थामें रखनेका अभ्यास, दया, मैत्री, करुणा, शान्ति, क्षमा और धैर्यपूर्वक सदा आत्मचिन्तन आदि मुख्य उपाय हैं। इनका सेवन करता रहे। इच्छामात्रका त्याग किये बिना और सगुण परमात्माकी शरण लिये बिना तथा सद्गुरुकी सेवा एवं शरण लिये बिना कभी ज्ञान होनेवाला नहीं है। आत्मज्ञान हुए बिना जगत्की सम्पत्तिसे कोटि उपाय करनेपर भी अखण्ड सुख प्राप्त नहीं होता। परोक्ष ज्ञान होनेके बाद एक क्षण भी चिन्तन न छूटे। आत्मचिन्तन छूटते ही पतन हो जाता है। भोग-अभिलाषा करते ही पतन हो जाता है। जगत्के विषयोंमें सुख-बुद्धि होते ही पतन होता है। जगत्मेंसे सुख-बुद्धि धीरे-धीरे अभ्यासपूर्वक निकालकर चित्तको आत्मामें जोड़ दे और सदा चित्तको आत्मामें ही आनन्दका अनुभव कराये। यह अभ्यास बहुत कठिन है। बहुत धैर्यके साथ, बिना उकताये करनेयोग्य है। इस जन्ममें या अनेक जन्मके बाद इस अभ्यासके किये बिना जीवका ताप शमन नहीं होगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अर्थात् 'सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब कल्याणको देखें, किसीको दुःख न हो।' इस श्लोकको रोज कुछ देर बोलनेसे बहुत लाभ होगा। परमात्मा सबको सुखी रखे, आत्मस्वरूप करे।

सत्संग-माला

१—सत्य और प्रिय वाणी बोलनी चाहिये, असत्य और प्रिय नहीं। इसी प्रकार सत्य और अप्रिय भी नहीं बोलना चाहिये। जीव अनेक जन्मोंके संस्कारके कारण अप्रिय और असत्य बोलता है। वे संस्कार प्रयत्नसे हट सकते हैं, अतः सत्य और प्रिय बोलनेका अभ्यास करना चाहिये। चिन्ता रखकर अभ्यास करना और सत्य एवं प्रिय बोलनेमें कोई हानि हो जाय तो उसे सह लेना चाहिये। सत्य और प्रिय बोलनेकी स्थिति न हो तो मौन रहना चाहिये और उस मौन रहनेमें यदि हानि हो तो उसे सह लेना चाहिये; परंतु सत्य और प्रिय बोलनेके नियमका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। जो इस (सत्य और प्रिय बोलनेके) नियमका दृढ़तासे पालन करेगा, उसे सुख, शान्ति, सम्पत्ति प्राप्त होगी, यश मिलेगा और निष्कामभावसे पालन करनेपर मुक्ति मिलेगी। जबतक जीवन रहे, तबतक इस नियमका पालन करना चाहिये। इस नियममें बहुत ही बल है। असत्य बोलनेवाले प्रिय बोलते हैं, इसलिये व्यवहारमें प्रिय बोलनेवाले प्रायः कपटी होते हैं, वे स्वार्थसाधनके लिये कपटसे प्रिय वाणी बोलते हैं, अतः व्यवहारमें प्रिय बोलनेवालोंका विश्वास नहीं करना चाहिये। सत्य बोलनेवाले कटु वाणी बोलते हैं और वह कटु वाणी सत्यके तपको खा जाती है। अतएव साधकको सत्य और प्रिय बोलनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं।

२—दूसरेकी चीज लेनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। इस नियमके पालनसे चोरी नहीं होगी, घूस नहीं ली जा सकेगी, किसीका न्याय्य स्वत्व नहीं छीना जायगा, मुफ्त कुछ भी नहीं लिया जायगा, दुराचार नहीं होगा; परस्त्रीके प्रति विकारसे नहीं देखा जायगा और अपना हक ही लिया जायगा। जिस वस्तुका मूल्य न दिया गया हो

उसे लेनेकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। इस नियमका पालन करनेवाला सबका प्रिय होता है, उसमें सब विश्वास रखते हैं, उससे सबको शान्ति मिलती है और सभी उसका प्रिय चाहते हैं।

३—किसीका कभी अपमान न करना। प्राणिमात्रको मान प्रिय है, अपमानसे उसको चोट लगती है, उसकी आत्मा दुःखी होती है। अपमान करनेवालेका पुण्य नष्ट होता है। अपमान करनेवालेपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते, वरन् नाराज होते हैं। अपमान करनेवालेमें अभिमान होता है, अभिमान अपने स्वामीका अल्पकालमें ही नाश कर डालता है। प्रभुताके बलपर दीन, रंक या कष्टमें पड़े हुए मनुष्यका जो अपमान करता है, वह पुण्यके बलसे ही करता है। पुण्य समाप्त होते ही वह महान् दुःखमें आ पड़ता है। किसीका कभी अपमान न करना, यह महान् व्रत है। बालक, वृद्ध, आश्रित, दीन, दुःखी, रोगी किसीका कभी अपमान न करे। अपनेमें जो भगवान् विराज रहे हैं, वही सबके हृदयमें विराज रहे हैं, अतएव किसीका भी अपमान न करके सबका मान करना चाहिये। सम्पूर्ण दानोंमें मान सबसे बड़ा दान है। यह जिसको दिया जाता है उसकी आत्मा प्रसन्न होती है। अतएव स्वयं अमानी रहकर सबको यथायोग्य मान देना चाहिये।

४—काठमें अग्नि व्याप्त है। अग्नि काठमें न हो तो वह प्रकट ही नहीं हो, परंतु प्रकट होती है, इससे यह सिद्ध है कि काठमें अग्नि है। इतनेपर भी काठको चीरनेसे जब उसमें अग्नि नहीं दिखायी देती, तब यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अग्नि नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, वह निरी आँखोंसे नहीं दीखते। विचारसे समझमें आते हैं और श्रद्धा तथा भक्तिसे प्रकट होते हैं। जिसमें विश्वास हो उसी मूर्तिमें या अपने हृदयमें श्रद्धापूर्वक भगवान्‌को देखकर उनकी भक्ति करनेसे भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं। अतएव दृढ़ निश्चय करके भगवान्‌की खूब भक्ति करनी चाहिये और शरीर छूटनेसे पहले ही भगवान्‌को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यही जीवका कर्तव्य है।

५—धर्मके चार अंग हैं—सत्य, तप, दया और दान। इन चारोंमेंसे एकको भी सिद्ध कर लेनेवाला परम सुखी हो जाता है, फिर जिसमें ये चारों बसते हैं उसकी महत्ताकी तो बात ही क्या? जिसमें ये चार नहीं हैं, वह धर्म नहीं है। ये चार जहाँ हैं वहाँ लक्ष्मीजी निवास करती हैं। कीर्ति तो इन चारोंके पीछे लगी रहती है। इन चारोंका सेवन करनेवालेमें सदा तेज रहता है। जो दुःखी है उसे निश्चय जानना चाहिये कि इन चारोंमेंसे उसमें किसकी न्यूनता है। सुखकी इच्छावालोंको इन चारोंका सदा सेवन करना चाहिये।

६—सत्य और प्रिय वाणी, ब्रह्मचर्य, मौन और रसत्याग—इन चारका सेवन करनेवालेमें सदा सिद्धियाँ बसती हैं।

७—जिसका मन कभी विकल नहीं होता और सदा प्रसन्न रहता है, वह सदा मुक्त ही है।

८—मैं चेतनस्वरूप आत्मा हूँ, नित्य हूँ, परमात्मस्वरूप हूँ। यह सारा जगत् अचेतन और असत् होनेके कारण मेरा कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसा दृढ़ ज्ञान हुए बिना सदा रहनेवाली शान्ति नहीं मिलती, मन प्रसन्न नहीं होता।

९—हर्ष और आनन्दमें भेद है। इन्द्रियोंके अनुकूल भोगकी प्राप्तिमें हर्ष होता है और हर्षके मोहका परिणाम शोक होता है। इसीलिये भोगसे मन और इन्द्रियाँ कभी प्रसन्न होती ही नहीं। मन जब आत्मामें लीन होता है, तभी मन, इन्द्रियाँ आनन्दका अनुभव करती हैं। आनन्द आत्मामें है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। जगत्के किसी भी भोगमें आनन्द नहीं है।

१०—एकान्तमें बैठो। अकेले घूमो। अकेले सोओ। अकेले रहो और यह भी प्रकृतिके समीप—नदी, पर्वत या जंगलके पास। अकेले भगवन्नामका खूब जप करो। अकेले विचार करो, अकेले शास्त्रका चिन्तन करो। सात्त्विक आहार करो, बहुत न खाओ, थोड़ा भूखे रहा करो।

११—जैसा अन्न वैसी बुद्धि। जैसा संग वैसी बुद्धि। अतएव सज्जनका संग करो। आत्माका कल्याण करनेवाली पुस्तक पढ़ो और

मेहनत करके अपने हकका अन्न खाओ। पराया अन्न जहाँतक बने, नहीं खाना चाहिये। यदि कभी खाना ही पड़े तो भाग्यवान्, गुणवान्, भगवान्‌के भक्त और उद्यमीका अन्न खाओ।

१२—सम्पत्ति, सन्तति और कल्याणकी इच्छावाले गृहस्थाश्रमीको गायत्रीका जप करना चाहिये। शंकरकी पूजा करनी और प्रतिदिन अग्निमें आहुति देनी चाहिये। संध्या-समय और प्रातःकाल गूगल आदिका धूप करना, साँझ-सबेरे घीका दीपक जलाना, भोजनसे पहले कौएको बलि देना, पक्षियोंको दाने डालना, उनके जल पीनेका साधन करना और गाय तथा कुत्तेको खानेको देना चाहिये। हो सके तो भूखेको अन्न देना, साधुको भोजन कराना चाहिये। किसी भिक्षुकका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। न हो सके तो चाहे न दे; परन्तु अपमान कभी न करे। सदाचारका पालन करना चाहिये।

१३—शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, मोह और क्रोध—इन छःसे जो मुक्त है, वह सदा मुक्त है।

१४—जिसके घरमें स्त्री-बालक, वृद्ध, रोगी, अतिथि और आश्रित आनन्दमें रहते हैं, उस घरमें सदा लक्ष्मी निवास करती हैं और जिस घरमें ये छः दुःखी रहते हैं, उसके घरमें लक्ष्मी थोड़े ही समयमें अदृश्य हो जाती हैं।

१५—पैदाइश, पड़ोस, पवन, पानी, प्रकाश, पगताश, पवित्रता और परमार्थ—ये आठ जहाँ सुलभ हों वहाँ रहना चाहिये।

१६—हो सके तो किसीका अन्नसे, वस्त्रसे, धनसे, वचनसे, विचारसे और बुद्धिसे भला कर देना पर बुरा तो कभी करना ही नहीं। किसीका भी अहित उसके अपने कुकर्मसे ही होता है तथापि मनुष्य उसके अहित करनेमें व्यर्थ ही भाग लेकर पाप करता है।

१७—हो सके तो पुण्य करना पर पाप तो कभी करना ही नहीं।

१८—हो सके तो दूसरेको देना पर लेना तो नहीं ही।

१९—दूसरेको सुखी देखकर प्रसन्न होना, दुःखी देखकर सहायता करना पर दुःखी देखकर प्रसन्न तो होना ही नहीं।

२०—एक गुप्त बात कहता हूँ। तुम जैसा करोगे, वैसा ही तुम्हारे प्रति सारा जगत् करेगा। तुम सच बोलोगे तो सारा जगत् तुम्हारे साथ सच बोलेगा। तुम यथाशक्ति दूसरेको सुखी करना चाहोगे तो सारा जगत् तुम्हें सुखी करना चाहेगा। तुम दया रखोगे तो सारा जगत् तुम्हारे प्रति दया रखेगा। इसमें दो शर्तें हैं—एक तो यह कि तुम जिस गुणका आचरण करो, वह निष्काम भगवदर्पण होना चाहिये। दूसरी, बहुत बार आचरण करनेसे वह गुणरूप स्वभाव हो गया होना चाहिये। कोई भी पुण्यकार्य सकाम होनेपर सम्पत्ति और यश देता है तथा निष्काम होनेपर भगवान्‌की प्राप्ति कराता है।

२१—त्याग तप है। त्यागके बिना न तेज है, न सत्कार है, न शान्ति है, न प्रसन्नता है, न आनन्द है और न मुक्ति ही है। त्याग करो—घरका नहीं, स्त्री-पुत्रोंका या धनका नहीं। त्याग करो क्रोधका—कड़वी वाणीका, विषय-भोगका, मनकी विविध कामनाओंका, दूसरेको दुःख देनेवाले स्वभावका, आलस्यका, अभिमानका, आसक्तिका, ममताका और अहंताका।

२२—कोईके बन जाओ, स्वामी बना लो। स्वामी समर्थको बनाओ। सबसे समर्थ हैं—भगवान्! भगवान्‌के बन जाओ। भगवान्‌से लग्न (विवाह) कर लो। हाथ पकड़ लो। वे पकड़ा हुआ हाथ नहीं छोड़ते। दयालु हैं और समर्थ हैं। देखो, अगर तुम छोड़ भी दोगे तो याद रखो, भगवान्‌के बन जानेपर भगवान् कभी भूलते नहीं, छोड़ते नहीं। जगत्‌में जीवन रहते या मर जानेके बाद कोई उसे सताने और दुःख देनेमें समर्थ नहीं होता। सर्वभावनासे भगवान्‌की शरण ले लो। मैं भगवान्‌का हूँ, यों कहो, यों मान लो फिर चिन्ता, भय और शोकसे छूटकर विचरो। जिसको जितना ही चिन्ता, भय और शोक होता है, उतना ही वह भगवान्‌का नहीं होता, यह समझना चाहिये। जिसके

सिरपर समर्थ चौदह लोकके नाथ स्वामी हों, जो अनन्यभावसे उनका बन चुका हो उसे क्या चिन्ता, भय और शोक होता है?

२३—तुममें व्यसन है, व्यसनमात्रका त्याग किये बिना नहीं तरा जाता। तुममें विषय-भोगकी इच्छा है। विषय-भोगमें रस रहेगा, तबतक भगवान् नहीं मिलेंगे। तुममें बहुत तरहकी कामनाएँ हैं। धीरे-धीरे कामनाओंका, व्यसनका एक-एक चुन-चुनकर त्याग किये बिना भगवान् नहीं मिलेंगे। जहाँ कामना है, वहाँ भगवान् नहीं और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ कामना नहीं।

२४—तुम दुःखी हो; तुममें दया कम होगी। दयाहीनके पास दुःख जहाँ-तहाँसे खोजता हुआ चला आता है। जिसमें दया है, जिसका हृदय दयासे कोमल है, उसके पास सुख चारों दिशाओंसे आते हैं।

२५—तुम दुःखी हो? तुम जरूर दूसरेकी निन्दा करते होओगे। दूसरेका दुःख देख-सुनकर प्रसन्न होते होओगे। सुखी होना हो तो दूसरेकी निन्दाका त्याग करो। जो उपस्थित नहीं है, उसके अवगुणोंका, दोषोंका कथन निन्दा कहलाता है, उसका त्याग कर देनेपर तुम सुखी हो जाओगे। जो दूसरेका दुःख देखकर प्रसन्न होता है, उसके पास दुःख अवश्य आता है, दूसरेको दुःखी देखकर सहायता करो, दया करो। यदि कुछ भी न बने तो उसका दुःख दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करो।

२६—जब-जब मनमें अशान्ति हो, तब-तब समझना चाहिये कि हम भगवान्को भूल गये हैं और इसलिये उसी समय भगवान्का स्मरण करना चाहिये।

२७—तुम जानमें, अनजानमें यदि माता-पिताको दुःख दोगे तो उनकी इच्छा न होनेपर भी उनके हृदयसे तुम्हारे लिये जो शाप निकलेगा उससे या तो तुम लक्ष्मीहीन हो जाओगे या सन्ततिहीन। 'माता-पितासे मैं अधिक जानता हूँ, अधिक समझता हूँ' ऐसा मानकर उनका कभी अपमान न करना। उनके हृदयका एक आँसू तुम्हारी सारी

सम्पत्तिको जलाकर भस्म कर देनेमें समर्थ है। जिस विद्यासे धन पैदा होता हो, वह चाहे तुमने अधिक पढ़ी हो, जिस बुद्धिसे सच्चेको झूठ, झूठेको सच्चा साबित किया जाता हो, वह बुद्धि चाहे तुममें विशेष हो परंतु माता-पितापर श्रेष्ठता प्राप्त करनेके लिये ऐसी बुद्धि और विद्या व्यर्थ है, विद्या वह है जिससे भगवान्‌के दर्शन हों। बुद्धि वह है, जिससे भगवान्‌को पहचाना जाय, धर्माचरण बने। धर्म, सत्य और तप यही जीवकी सम्पत्ति है। यहाँकी लक्ष्मी तो जीवके लिये भाररूप, चिन्ता, भय, क्लेश, श्रम, दुःख और मदको देनेवाली है और अन्तमें जन्म-मरणके चक्करमें डालनेवाली है।

२८—जैसे मूर्ति (पत्थरकी) पत्थर नहीं है पर पत्थरमें भगवान् हैं, इसी प्रकार हाड़-मांसके शरीरमें माता-पिता हाड़-मांस नहीं हैं पर हाड़-मांसके शरीरमें विराजित परमात्मा हैं। माता, पिता, गुरु, बड़े-बूढ़े, बालक और आश्रितका सत्कार करना चाहिये। माता-पिता और गुरुकी देवताकी भाँति आराधना करनी चाहिये। उन्हें मान देना, उनके कथनानुसार करना; उन्हें सन्तोष पहुँचाना चाहिये। देवताओंका शाप टालनेमें माता-पिता और गुरु समर्थ हैं, परंतु माता, पिता, गुरुका शाप टालनेके लिये त्रिभुवनमें कोई भी समर्थ नहीं है।

२९—स्त्रीको यथायोग्य आवश्यकताओंकी पूर्ति करके सन्तुष्ट रखो पर उसके वशमें न हो जाओ। स्त्रीमें बुद्धि कम है, हृदय प्रधान है। उसमें अच्छे-बुरेका, लाभ-हानिका स्वयं विचार कम है। वह विचार कम कर सकती है, वह भावनाके वशमें है। मोह, दया, ममता, लोभ आदिके अधीन झट हो जाती है। उसे नया-नया देखना, नया-नया सुनना, नया-नया पहनना, घूमना-फिरना, नयी-नयी वस्तु प्राप्त करना विशेष पसन्द है। उसको उसकी बुद्धिपर चलने दोगे या तुम उसकी बुद्धिपर चलोगे तो भयंकर दुःखमें पड़ जाओगे। अतएव उसपर सदा नियम न रखो। उसका हृदय ऐसा है जो सहज ही ठगा जा सकता है, इसलिये उसकी रक्षा करनी चाहिये। दुर्जन, प्रलोभन, वहम और मोहसे उसे बचाना चाहिये। उपदेशकी

अपेक्षा भय उसके लिये विशेष लाभदायक है। निष्ठा पक्की हो जानेपर वह उससे नहीं फिरती। इसीसे पातिव्रत उसके लिये उत्तम धर्म है। पतिके आज्ञानुसार चलनेका व्रत रखनेवाली स्त्री कभी दु:खी नहीं होती। स्त्रीको ज्ञान पसन्द नहीं है, भक्ति पसन्द है। तीर्थाटन पसन्द है। देवदर्शन पसन्द है। व्रत-नियम पसन्द है, इसलिये स्त्रीको व्रत-नियम करने देना चाहिये। बुरे संगसे स्त्री बिगड़ती है, इसलिये उसका संग सदा अच्छा होना चाहिये। इसीलिये उसको सदा गृहकार्यमें, देवदर्शनमें और भगवत्-सम्बन्धी तथा नीतिकी पुस्तकोंके पढ़नेमें लगाये रखना चाहिये। पतिको साथ लिये बिना स्त्रीको कभी परपुरुषके साथ—भले ही वह साधु या भक्त ही हो—नहीं रहना चाहिये। पुरुषको चाहिये कि वह स्त्रीको परपुरुषके पास, चाहे वह कोई क्यों न हो, कभी न रखे। स्त्री चाहे जितनी होशियार हो, परंतु भोली है और पुरुष चाहे जितना धर्मात्मा माना जाता हो पर वह स्त्रीके लिये प्राय: दगाबाज कामी और कपटी है। अतएव स्त्रीको परपुरुषका और पुरुषको परस्त्रीका संग कभी करना ही नहीं चाहिये। स्त्री-पुरुषके लिये एकान्तवास भयरूप है। अपनी स्त्रीको दूसरेके अधीन कभी नहीं रखना चाहिये।

३०—जिसमें सदाचार नहीं, वह सत्कारका पात्र नहीं। किसीके विशेष धन हो, विशेष बुद्धि हो, विशेष बल हो, सिद्धियाँ हों, वह आकाशमें उड़ता हो, भूमिमें गड़ता हो, मुर्देको जीवित करता हो और चाहे इससे भी विशेष कोई चमत्कार दिखाता हो पर जिसमें सदाचार न हो तो उसका संक्रामक रोगीकी भाँति त्याग कर देना चाहिये। कोई भजन गाता हो, व्याख्यान देता हो, नाचता, कूदता हो और गवाता हो पर यदि वह सदाचारी नहीं है तो उसका त्याग कर देना चाहिये। दुराचारी संक्रामक रोगीकी अपेक्षा भी अधिक भयंकर है। दुराचारके समान कोई दूसरा संक्रामक रोग नहीं है।

३१—जो मनुष्य परस्त्रीके साथ बात करनेमें रस लेता हो, निर्लज्ज हो, मीठी-मीठी बातें करनेवाला हो और रास्तेमें या चलते-चलते खाता

हो, उसका संग कभी नहीं करना चाहिये। ऐसे लोग प्रायः हृदयके कपटी और दुष्ट भाववाले होते हैं। मीठी-मीठी बातें करनेवाला चोर होता है—झूठा, कपटी और दुराचारी होता है। व्यवहारमें मीठा बोलनेवालेका कभी विश्वास न करे। खुशामद करनेवालेका विश्वास न करे। सच्चा-मीठा बोलनेवाला और हितैषी दुर्लभ है।

३२—इस कालमें कामके बिना दूसरेके घर कभी नहीं जाना चाहिये और न दूसरेको अपने घर आने देना चाहिये। कोई आ जाय तो उसे नम्रतासे पूछना चाहिये, 'कैसे आये? क्या काम है?' किससे काम है? और यदि काम न हो तो उसे आदरके साथ घरसे विदा कर देना चाहिये। परिचित, प्रेमी और सगे-सम्बन्धी हों तो दूसरी बात है। पर उनको भी बिना काम इस समय कहीं नहीं रहना चाहिये। पिताको लड़केके घर भी काम बिना अधिक नहीं रहना चाहिये। अपने घरमें, अपने मुकाममें और अपने काम-धन्धेके लिये सदा रहना चाहिये। सदा या तो उद्यम करना चाहिये या भजन-सत्संग करना चाहिये। निकम्मा कभी नहीं बैठे रहना चाहिये।

३३—किये बिना मिलनेका नहीं। जैसा करता है, वैसा मिलता है। पहले किया है वैसा अब मिल रहा है और अब, जैसा करेगा वैसा आगे मिलेगा। करना अपने हाथ है, फल कब, कैसा और कितना देना, यह ईश्वरके हाथ है। पुण्यका फल सुख और पापका दुःख है, यह निश्चित है। बस, तो करना आरम्भ कर दो। किये जाओ। लगे रहो। यह समय आया है, चला जायगा। जागो, उठो और लग जाओ। फिर ऐसा अवसर सहज नहीं आयेगा। ईश्वरका भजन करो। तुम्हारे पास कुछ हो तो दान करो। बुद्धि हो तो भूले हुएको मार्ग बताओ, दुःखीकी सहायता करो। दुःखीके प्रति दया रखो। मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर भगवान्‌में लगाओ। कुटुम्ब-पालन तो पशु-पक्षीकी योनिवाले भी करते हैं, विषय-भोग तो तुम्हारी अपेक्षा पशु-पक्षियोंको अधिक सुलभ है। फिर कुटुम्ब-पालन और विषय-भोगमें ही अपनी आयुको क्यों बिता रहे हो? देखो तो

सही। जगे हो या अभी सो ही रहे हो? देखो, तुम्हारी सारी प्रवृत्तियाँ कुटुम्बके पालन-पोषण और मन-इन्द्रियोंके भोगोंके लिये ही हो रही हैं। काल आयेगा और सब कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा। उस समय कोई कुटुम्बी सहायता नहीं कर सकेगा। जीवनभर परिश्रम करके जिसको प्राप्त किया, वह सम्पत्ति, वह धन और वह कुटुम्ब भी यहीं रह जायगा। जिसके लिये पाप किया, वह सब कुछ यहीं छूट जायगा। तुम अकेले जाओगे। स्त्री-पुत्र, स्नेही, सम्बन्धी कोई तुम्हारे साथ नहीं जायँगे। पाप और पुण्य ही तुम्हारे साथी होंगे। इसलिये भाई! चेत करो! प्रतिदिन कुछ पुण्य करते रहो। भजन करते रहो। ये तुम्हारे काम आयेंगे। जीवका धन धर्म और भजन—ये दो ही हैं। इस बातको कभी न भूलो और धन-धर्मके संग्रह और पालनमें लगे रहो।

३४—पतिकी आज्ञाका पालन करना स्त्रीका परम धर्म है। वह इतना ही धर्म पालन कर ले तो स्वर्गमें जाती है।

३५—माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना—यह सन्तानका धर्म है। इतने ही धर्मके पालनसे सन्तान अवश्य स्वर्गको जाती है।

३६—ऐसी ही क्रिया करनी चाहिये और ऐसी ही वाणी बोलनी चाहिये कि जिससे असत्य, आलस्य, अकुलाहट, चिन्ता, भय और विशेष श्रम न हो।

३७—बहुत बातोंको जानना और आचरण करना कठिन मालूम होता हो तो एक ही बात बतलाता हूँ—'सदा प्रसन्न रहना।' मनकी प्रसन्नता स्थिर रहे ऐसा बोलना, ऐसा बरताव करना और ऐसा विचार करना चाहिये। जिसको चिन्ता नहीं है, भय नहीं है, जो क्रोध नहीं करता, सदाचारी और शान्त है, वही नित्य प्रसन्न रह सकता है। किसी भी क्रियाके करनेसे पहले विचार करके देख लो कि इससे मन प्रसन्न रहेगा? प्रसन्न मनवालेकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है, मन शान्त रहता है, मुखकी आकृति शान्त (क्षोभरहित) होती है, मनको प्रसन्न रखनेका अभ्यास

करनेसे वह सिद्ध होती है, मनमें उठनेवाले संकल्पोंके अनुसार ही जो क्रिया करता है, उसका मन नहीं प्रसन्न रहता। मनमें चोरी या दुराचारका विचार आया तो उसके अनुसार कार्य प्रारम्भ करते ही मन अशान्त, व्यग्र, चिन्तित और भयसे युक्त हो जाता है। प्रसन्नता तो मनकी सदा शान्त अवस्था है; इन्द्रियनिग्रह, मौन और आत्मबुद्धिसे दीर्घकालमें यह प्राप्त होती है।

३८—एक सहज नियम बताता हूँ। इतना हो जाय तो भी तरा जा सकता है—'दूसरेकी निन्दा न सुनना, न करना।' जो उपस्थित न हो उसके दोषका कथन करना निन्दा कहलाता है।

३९—बालक जन्म लेता है, उसी समय ज्योतिषी उसके जीवनमें क्या-क्या होनेवाला है सब बता देते हैं। अतएव उसके जीवनमें जो होनेवाला है, वह जन्मसे ही निश्चित है। अपने जीवनमें जो कुछ होना है, वह तो निश्चित है ही; जगत्‌में भी जो कुछ होना है, वह भी निश्चित है। सिनेमाके फिल्मकी भाँति इस जगत्‌में जो कुछ होना है सो होगा ही। अतएव हर्ष, शोक और आश्चर्यको छोड़कर शान्तिके साथ उसे देखा करो और अपनेको पहचानो।

४०—तुमने इतिहास पढ़ा। भूगोल, खगोल पढ़ा। भाषाएँ पढ़ीं, शास्त्र पढ़े, बहुत जानकारी प्राप्त की और उस जानकारीसे तुम्हें अभिमान हो गया कि 'मैं बहुत जानता हूँ।' पर मैं तुम्हें कानमें पूछता हूँ कि क्या तुमने यह जान लिया कि 'तुम कौन हो?' इसके जाने बिना सारा जानना भाररूप है। तुमने बहुत देखा, शहर, खण्ड और सारी पृथ्वी देखी; पेड़, पहाड़ और जंगल देखे। भाँति-भाँतिके मनुष्य, पशु और पक्षी देखे; पर मैं तुम्हें धीरेसे पूछता हूँ कि तुमने अपनेको देखा? तुमने अपनेको नहीं जाना, नहीं देखा और सब कुछ जान लिया, देख लिया तो वह सब व्यर्थ है। तुम्हारा सारा परिश्रम व्यर्थ गया। अब भी चेतो, देखो, जानो और समझो कि तुम कौन हो।

४१—तुम किसपर गर्व करते हो? विद्यापर। तुम्हारी विद्या तो तुम्हारे और तुम्हारे कुटुम्बका पेट भरने, पाप करने और मन-इन्द्रियोंको

प्रसन्न करने-जितनी ही है। यह सब काम तो पशु-पक्षी बिना पढ़े ही करते हैं और तुमसे अच्छा करते हैं। तो मूर्ख! इसके लिये तुमने क्यों इतना परिश्रम किया? पशु-पक्षी और देव-योनिमें जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी प्राप्तिके लिये तुम मनुष्य बने। उसको तो प्राप्त किया नहीं और उलटे परिश्रममें लग गये। मूर्ख! अब भी चेतो! अपनेको पहचानो। भगवान्‌की शरण लो और सदाके लिये संसारसे तर जाओ!

४२—परस्त्रीके साथ कभी एकान्तमें न रहो। प्रयोजनके बिना उससे व्यर्थ बातें न करो। परस्त्रीकी ओर देखनेमात्रसे विकार उत्पन्न होता है, बात करनेसे बढ़ता है, स्पर्श करनेसे पूर्णताको पहुँचता है। पृथिवीकी ओर नजर रखकर चलो। जो परस्त्रीसे बच गया, वह नरकसे बच गया, परस्त्री नरकका द्वार है।

४३—परायी वस्तु लेनेकी इच्छा करनी ही नहीं। परायी वस्तु ही पाप है। दान नहीं लेना चाहिये। मेहनत करके खाना चाहिये। बिना मेहनतके जो जिसका खाता है, वह उसका गुलाम हो जाता है और इस प्रकार उसके अधीन हो जाता है। स्वतन्त्र वह है, जो अपनी सच्ची मेहनतकी कमाई खाता है।

४४—परस्त्रीका संग करते हुए, उसके साथ रहते हुए यदि तुम समझते हो कि निर्विकार रहोगे तो यह तुम्हारा मिथ्या बकवाद है। जिस प्रकार नशेबाजकी बात अथवा सन्निपातग्रस्त रोगीकी बात ग्राह्य नहीं होती, उसी प्रकार तुम्हारी यह बात ग्राह्य नहीं है। तुम विकारके कीड़े हो, पामर हो, तुम्हारी शक्ति ही क्या परस्त्रीके सहवाससे यदि कोई बचता है तो भयसे अथवा भगवान्‌की दयासे। अन्यथा मनकी ताकत कहाँ जो एकान्त और अनुकूलता तथा सामर्थ्यके होते हुए भी परस्त्रीसे बच सके। कल्याणकी कामना करनेवालोंको कभी एकान्तमें परस्त्रीका सेवन नहीं करना चाहिये और प्रयोजन हो उतना ही संसर्ग रखना चाहिये। परायी स्त्रीको देखना, उसके साथ रसपूर्वक बातचीत करना, उसकी बात सुननेमें दिल लगाना, छिपकर बातें करना, कोई-न-कोई बहाना निकालकर स्पर्श

करना—ये सारे विकारके द्वार हैं। परायी स्त्री और पराये धनसे जो बचता है, वह स्वर्ग जाता है।

४५—जब तुमको अपने गुरुजन, बड़े और पूज्य लोगोंमें दोष दिखलायी दें, सगे-सम्बन्धी अप्रिय लगें और पराये लोग प्रिय लगें, पराये गुण दीखें और स्वजनोंमें अवगुण सूझे, तब जान लो कि तुम्हारी दशा उलटी आ गयी है और स्वल्पकालमें ही तुम दुःखमें पड़नेवाले हो।

४६—कल्याणके मार्गपर चलनेवाले, जैसे भगवान्‌का नामजप करनेवाले, भजन-कीर्तन करनेवाले, दान-पुण्य करनेवाले—इन सबको सम्पत्ति और यश थोड़े ही समयमें प्राप्त होता है और उसमें तृप्त रहनेवालोंका पुण्य उसमें ही समाप्त हो जाता है। यदि विशेष पुण्य हो तो उसे अभिमान होता है, दूसरोंको उपदेश देनेका उसका मन करता है, वह दूसरोंको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना चाहता है। बड़ा बननेका मन होता है और अपने बराबरीवालों तथा विशेष योग्यतावालोंसे द्वेष होता है। इस प्रकारसे मनकी भूल-भुलैया मनकी लोलुपतामें पड़कर कल्याणके पुण्यको समाप्त कर देता है और भगवान्‌को पाता नहीं। मनकी कामनाओंके वशमें चलनेवाला भगवान्‌को कभी नहीं पा सकता। इन्द्रिय और मनके निग्रहके बिना लाखों उपाय करनेपर भी भगवान् नहीं मिलते। मुक्ति नहीं मिलती।

४७—अपनेसे हलके आचार-विचारवालोंका भोजन कभी न खाओ, उनके सहवासमें कभी न रहो, उनके साथ बात-व्यवहार भी न करो। याद रखो कि जैसा मन होता है, वैसा ही मनुष्य होता है और जैसा संस्कार होता है, वैसा मन बनता है। मन तो प्रकृतिसे बना हुआ है। मनुष्य जो भोजन करता है, उस भोजन और पानीके सूक्ष्म भागसे मन बनता है। खाने-पीनेके पदार्थोंके परिणामसे मन बनता है। उसके बाद खाये-पीये पदार्थोंके साथ भावनाका सूक्ष्म संस्कार होता है। उसका भी मनके संस्कारपर असर पड़ता है। फिर जो कुछ तुम पढ़ते हो, देखते हो, सुनते हो, अनुभव करते हो, उन सबका संस्कार मनके खजानेमें इकट्ठा होता है। अतएव यदि तुम कल्याणकी इच्छा करते हो तो अपने समान या अपनेसे

विशेष आचार, विचार और अभ्यासवाले व्यक्तिका ही भोजन ग्रहण करो। शुद्ध अन्न लो, शुद्ध जल लो, शुद्ध हवा लो और ऐसे ग्रन्थका वाचन करो, जिनसे मनपर मलिन संस्कार न पड़े। जिस वाचनसे मनमें कामनाएँ जाग्रत् हों, उसे मलिन जानना चाहिये। जिससे मनमें कामनाएँ घटें और परमात्मामें प्रीति उत्पन्न हो, मन निर्मल हो, उसे शुद्ध वाचन जानना चाहिये।

४८—जिस प्रकार प्रतिदिन दाँत साफ करना जरूरी है, क्योंकि वह मैला हो जाता है; जिस प्रकार स्नान आदिसे प्रतिदिन शरीर स्वच्छ रखना जरूरी है, क्योंकि वह मैला हो जाता है, जिस प्रकार वस्त्रोंको धोना जरूरी होता है, घरको रोज साफ रखना पड़ता है उसी प्रकार मनको भी रोज स्वच्छ करना पड़ता है। जिस प्रकार बर्तन घिसनेसे साफ होता है, उसी प्रकार मनपर जो मैल चढ़ी होती है (और रोज उसपर मैल चढ़ती है ही) उसको साफ करनेके लिये उपासनाकी आवश्यकता पड़ती है। किसी सम्प्रदायमें यह उपासना प्रतिदिन तीन बार कही गयी है और किसीमें पाँच बार और कुछ लोग तो अपना लक्ष्य दिनभर मनपर ही रखते हैं और मैला होते ही उसे साफ कर डालते हैं। जिस प्रकार रास्तेके ऊपरके मकानमें धूल, इच्छा न होते हुए भी उड़कर घरमें आकर सब कुछ मैला कर देती है, उसी प्रकार मनुष्यकी इच्छा न होते हुए भी मन इन्द्रियोंसे अनुभवद्वारा मैला हो जाता है। समझदार आदमी अपने मनके उस मैलको तुरन्त ही धो डाले। जिससे तुरन्त न हो सके उसे दिनमें उस कामके करनेका समय निश्चित कर लेना चाहिये। इस कामको शास्त्रोंने सन्ध्योपासना, स्तुति, प्रार्थना, पूजा आदि नाम दिये हैं।

४९—जिनकी अपनी या परायी स्त्रीको देखनेमें रुचि है, स्त्रियोंकी बातें सुननेमें अच्छी लगती हैं और जो स्त्रीके सहवाससे प्रसन्न होते हैं, वे उसी परिमाणमें भगवान्‌से विमुख हैं। जैसे-जैसे भगवान्‌में प्रीति होती जायगी, वैसे-वैसे ही स्त्रीका सहवास, उसके रूपका दर्शन और उसकी वाणी सब कुछ कड़वी—विष-जैसे लगने लगेगी और व्यवहार—धन

कमाना और खर्च करना अत्यन्त दुःखरूप जान पड़ेगा। फिर तो स्त्री हो या पुरुष—किसी भी व्यावहारिक मनुष्यका सहवास, बातचीत, प्रसंग अत्यन्त ही त्रासदायक लगेगा; क्योंकि ये सभी भगवान्‌के अनन्य भक्तके लिये विघ्नरूप हैं।

५०—स्त्रीकी बात यदि अपनेको ठीक न लगती हो तो उसके अनुसार काम करना मोह है और वह दुःख प्रदान करता है। स्त्री या बालक प्रत्येकके कहे अनुसार अपनी इच्छाके विरुद्ध बर्तनेसे हम उनके गुलाम हो जाते हैं। स्त्री, बालक, अतिवृद्ध और रोगीको अपने हिताहितका ज्ञान कम रहता है। अतएव श्रेयकी इच्छा करनेवालोंको चाहिये कि उनका जो आग्रह ठीक न जँचे, उसे न करे।

५१—शरीरसे कर्म करनेवाला चित्त है। वह चित्त यदि शान्त रहता है तो सुखका अनुभव करता है और अशान्त चित्त दुःखका अनुभव करता है। चित्त दो प्रकारसे अशान्त होता है। एक दूसरोंसे और दूसरा अपनेसे। दूसरोंसे हुई अशान्तिको दूर करनेके लिये एकान्त-सेवन करना चाहिये। दूसरोंके संसर्गमें नहीं आना चाहिये। नदी, पर्वत, समुद्र, देवस्थान, तीर्थ, एकान्त, प्राकृतिक दृश्यवाले स्थान आदिका सेवन करें। अपने द्वारा जो अशान्ति होती है, वह इच्छा करनेसे उत्पन्न होती है। उन इच्छाओं और कामनाओंको दुःखरूप जानकर उनका धीरे-धीरे त्याग करे। सुख जगत्‌के किसी प्राणी या पदार्थमें नहीं है। सुख मनकी शान्तिमें, मनकी प्रसन्नतामें है। वह मनकी शान्ति और प्रसन्नता, जिस परिमाणमें जगत्‌से मुँह मोड़कर भगवान्‌की ओर झुकेगा, उसी परिमाणमें बढ़ेगी। मन और इन्द्रियोंके भोगोंका त्याग करनेके सिवा लाखों उपाय—करोड़ों खर्च करनेसे सुख-शान्ति और आनन्द मिलनेका नहीं।

५२—बेकार कभी न बैठो। या तो कोई उद्यम करो, जगत्‌के लिये उपयोगी काम करो, जगत्‌की सेवा करो अथवा ईश्वरकी भक्ति करो, परंतु कभी बेकार न बैठो। आत्मचिन्तन करना भी कर्म है। मिथ्या वचन मत बोलो। दूसरोंकी निन्दा न करो। दूसरोंकी बुराई न करो। दूसरोंकी

बुराईकी इच्छा भी न करो। दूसरोंकी बुराई देखकर प्रसन्न मत होओ। अपने विनश्वर शरीरसे जबतक जियो तबतक कर्म करके प्राणिमात्रकी किसी-न-किसी प्रकार सेवा करो।

५३—दान दो—तुम्हारे पास जो हो वह दान करो। शक्ति, साधन और सम्पत्तिको परोपकारमें लगानेका नाम दान है। इसीका नाम सेवा है। पढ़े-लिखे हो तो दूसरोंको पढ़ाओ। धन हो तो उससे समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हुए सेवा करो। बुद्धि विशेष हो तो भूले-भटकोंको मार्ग बताओ। तालाब, कुँआ खुदवाओ। दवाखाना खोलो, भूखोंको अन्न दो, प्यासेको पानी दो। अपढ़को पढ़ाओ। देवमन्दिर बनवाओ। पथिकको आश्रय दो। गायोंका पालन करो। निराधारको अन्न-वस्त्र देकर आधार बनो। निरुद्यमीको उद्यम दो। विद्या दान करो। जहाँतक बने सहायता करो। अभिमान छोड़कर जिन भगवान्ने तुम्हें शक्ति, साधन-सम्पत्ति प्रदान की है, वे प्राणिमात्रके हृदयमें बसते हैं, उनकी सेवामें खर्च करके भगवान्की सेवा करो और भगवान्को प्रसन्न करो। जितना हो सके अच्छा काम करो, बुरा काम तो कभी करो ही मत।

५४—सभी देवताओंकी मूर्तियोंको प्रणाम करो, सबमें एक ही भगवान् है; परंतु अपना एक इष्टदेव निश्चय कर लो। उसमें मनको लगाओ, उसका स्वामित्व स्वीकार करो। तुम उसके हो और वह तुम्हारा है। वह समर्थ है, सर्वव्यापक है। सारे ब्रह्माण्डका उत्पन्न करनेवाला, पालन करनेवाला और संहार करनेवाला वही है। आपत्तिमें और अन्त समयका साथी वही है—ऐसी दृढ़ भावना करके उसकी आराधना करो। उसके नामका कोई जप निश्चय कर लो और फिर खूब जप करो; रोज जप करो; सबेरे, बेकार रहो तब, रातमें उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोने जाओ तब, उठो तब और जागो तब, सदा भगवान्के उस नामका जप करो। इष्टदेव और उसके जपमें बार-बार परिवर्तन न करो। समझकर और हृदयमें जिस इष्टदेवके प्रति श्रद्धा बैठे, उसे निश्चयपूर्वक स्वीकार कर लो। पीछे बदलो मत। पतिव्रता एक ही पतिका हाथ पकड़ती है। मरते

दमतक संसारमें उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ दीखनेवाले बहुत होनेपर भी, उसे छोड़कर दूसरोंको अपना हाथ नहीं पकड़ाती। उसी प्रकार इष्टदेव और जपको स्वीकार करनेके बाद उसे बदलना नहीं चाहिये। कुछ स्वयं अनुभव न रखनेवाले वाचाल, दम्भी, पराये टुकड़ोंपर जीनेवाले, कामनाओंसे भरे हुए साधु या पण्डितका बाना धारण कर साधकसे कहते हैं कि तुम अमुक नामका जाप करो, अमुक इष्टदेवको मानो। उनका कहना नहीं मानना चाहिये। वे भुलावेमें डालते हैं, भ्रम पैदा करते हैं, अश्रद्धा उत्पन्न करते हैं। तुम जिसको भजते हो वह भगवान् ही हैं, वह जरूर तारेंगे—ऐसा न करनेवाला तरता नहीं, सुखी नहीं होता, संशयवाला होता है और नाशको प्राप्त होता है। इसलिये एक मनसे एक ही इष्टका आश्रय लेकर एक ही जप करो। एककी ही शरण लो, एकका ही ध्यान धरो। दूसरे सभी देवताओंमें वही है, ऐसा जानो।

५५—जगत्‌में सत्य और प्रिय बोलनेवाले बहुत ही दुर्लभ हैं। कभी वे मिलें तो उनके दर्शनसे, उनको प्रणाम करके, उनको सन्तुष्ट करके, उनके साथ सत्संग करके पवित्र हो जाओ। उनकी अपेक्षा भी जो सत्य और प्रिय बोलनेवाला विषय-भोग तथा उसकी इच्छाका भी त्याग कर चुका है, जीभके रसका भी त्याग कर चुका है और जिसने क्रोधको भी जीत लिया है, ऐसा महापुरुष तो अत्यन्त ही दुर्लभ है।

५६—पुण्यके प्रभावसे अथवा श्रम करके तुम मिष्ठान्न भोजन आनन्दसे करते हो पर वह स्वाद जबतक वह पदार्थ जीभके ऊपर रहता है तभीतक है न? और उसके बाद? कुछ नहीं। विशेष खा लिया होगा तो चित्त अशान्त रहेगा, अकुलाहट होगी। पुण्यसे अथवा श्रमसे धन बहुत पैदा किया। फिर उसे अपने इच्छानुसार खर्च करेंगे—जब जिसे देना होगा, देंगे। उसके बाद? इस धन्धेमें तुमने क्या कमाया? केवल श्रम। कमानेमें तो श्रम होता ही है; परंतु धन खर्च करनेमें भी सूक्ष्मतासे विचार करें तो मनमें सदा विक्षेप ही होता रहता है। चिन्ता तो लक्ष्मीकी बहिन ही है। जहाँ लक्ष्मी जाती है, चिन्ता साथ जाती है और क्लेश तो लक्ष्मीके

कपालमें सटा ही रहता है। जहाँ लक्ष्मी जाती है वहाँ चिन्ता और क्लेश जरूर रहते हैं। बहुत धन पैदा किया और बहुत खर्च कर दिया तो इसमें जीवने क्या कमाया? जीवको तो भूख है सदासे, चिरकालसे, अनेक युगोंसे, अनेक जन्मोंसे—भूख है जीवको शान्तिकी और आनन्दकी। धनके खर्च करने और कमानेमें श्रम, चिन्ता और विक्षेप रहते हैं। किसी-न-किसी कारणसे विक्षेप होता है। लक्ष्मीमें शान्ति और आनन्द नहीं हैं। शान्ति और आनन्द तो आत्मामें हैं, परमात्मामें हैं। तुम्हारे पूर्व-पुण्यसे लक्ष्मीकी प्राप्ति हो तो भी उसके द्वारा भगवान्‌की आराधना करो, सत्संग करो और धन देते रहो भगवान्‌के निमित्त, भगवद्भक्तके निमित्त।

५७—पति और पत्नी एक-दूसरेसे प्रसन्न हों तभी अच्छी संतान उत्पन्न होती है। व्यभिचारीकी संतान मूर्ख होती है। पति पत्नीको और पत्नी पतिको प्रसन्न रखे। वस्त्र, आभूषण, अन्न और सम्मान आदि प्रदान करके पति पत्नीको प्रसन्न करे। जिसमें अधर्म न हो, परिवारके लिये दुःखप्रद न हो, पत्नीकी ऐसी सारी इच्छाओंको पति पूर्ण करे और स्त्री पतिकी सेवा करके, सत्य और मीठी वाणी बोलकर, बालकोंकी सँभाल रखकर, घर और घरकी वस्तुओंको सँभालकर, व्यवस्थापूर्वक रखकर, सुन्दर भोजन बनाकर और हाव-भाव तथा भोग-विलाससे पतिको प्रसन्न करे। एक-दूसरेकी न्यूनाधिक अप्रसन्नतासे बाँझपन आता है, दुर्गुणोंसे युक्त संतान उत्पन्न होती है। पत्नीको व्रत-नियमका पालन करना चाहिये। पति पत्नीको साथ लेकर धर्माचरण, दान-पुण्य, सत्संग, तीर्थसेवन और सेवाका कार्य करे। दोनों सहयोगसे, प्रेमसे, भगवद्भक्तिसे, संसारसे तर जायँगे। कलहसे इस जीवनमें भी दुःख है, एक-दूसरेको देखकर मनमें आनन्दित होते हैं, वहाँ सुख-सम्पत्ति, शान्ति और आनन्दका वास होता है।

५८—जो पुरुष परायी स्त्रीकी कभी इच्छा नहीं करता, बल्कि अपनी ही स्त्रीमें प्रीतिमान् होता है, उसका वीर्य शुद्ध बीज कहलाता है और जो स्त्री परपुरुषके संगकी कभी इच्छातक भी नहीं करती, वह शुद्ध योनि कहलाती है। ऐसी शुद्ध योनिमें शुद्ध बीज पड़े तो अच्छी

सन्तान उत्पन्न हो। परस्पर अन्तःकरणसे प्रेम करनेवाले स्त्री-पुरुषसे शान्त, गम्भीर, बुद्धिमान्, धर्मात्मा, उद्यमी और दृढ़ निश्चयवाली तथा सुन्दर गठनवाली सन्तान होती है।

५९—मनके शान्त हुए बिना सुख नहीं होता। शरीरकी सारी क्रियाओंको देखो। समस्त क्रियाओंका कर्ता तो मन ही है। सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला भी मन ही है। मनके बिना कुछ भी अनुभवमें नहीं आता। सुखके लाखों और करोड़ों साधन मौजूद हों, परंतु यदि मनमें अशान्ति है तो उन सारे साधनोंसे सुख नहीं होता। बल्कि अशान्त मनसे दुःखका ही अनुभव होता है। इसलिये ऐसा प्रयत्न करो कि मन शान्त रहे। मनमें इच्छाएँ उठती हैं, कामनाकी तरंगें उठती हैं और जबतक उन कामनाओंकी पूर्ति नहीं होती तबतक मन अशान्त रहता है। कामनाके उठनेमें एक सेकंड भी नहीं लगता और उसकी पूर्तिमें वर्षों लग जाते हैं और तबतक लाखों दूसरी कामनाएँ उठ खड़ी होती हैं। क्या किसीकी कामनाएँ पूरी हुई हैं? गरीबका मन कहता है, मुझे राजा होना है और राजा होनेके पहले अनेक दूसरी कामनाएँ उठ खड़ी होती हैं। इसलिये भाई! प्रयत्न करके मनमें जो कामनाएँ उठें, उन्हें मनहीमें लीन कर दो। सुखके लिये कोई कामना न करो, कामना न करनेसे ही सुखका अनुभव होता है। जिसका मन सदा कामनारहित और निर्विकार रहता है, उसके लिये सदा सुख, सदा शान्ति और सदा आनन्द है।

६०—क्या तुम कथा बाचते हो? व्याख्यान देते हो? भाषण देते हो? लोगोंको उपदेश देते हो? भक्त होकर गाते-गवाते हो? नाचते-कूदते हो? तुम कहते हो कि यह सब तुम दूसरोंके लिये करते हो! यह तुम्हारा कहना झूठा है। तुम दूसरोंसे ऐसा कहकर धोखा देना चाहते हो। तुम्हारे हृदयमें वासना छिपी बैठी है—धनकी, मानकी, प्रतिष्ठाकी, बड़े होनेकी, बड़ा दिखलानेकी, सामनेवालेका भला कर डालनेकी यदि कोई-न-कोई कामना तुममें न होती तो तुम इतनी सारी मेहनत न करते होते। तुम्हारे भीतर वासनाएँ और विकार भरे पड़े हैं, उनका पोषण करनेके लिये यह

सब कर रहे हो। पीछे मुड़ो, अन्दर तलाश करो। मनकी मैल निकालकर ईश्वरकी शरणमें जाओ। तुम लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये नयी-नयी बातें गढ़ते हो, नये-नये दृष्टान्तों और आख्यानोंको तैयार करते हो; लोग प्रसन्न हों—इस उद्देश्यसे नये-नये रागोंके भजन बनाते हो, गाते हो, नाचते हो, कूदते हो और लोग वाह-वाह कहते हैं, तब भीतरसे प्रसन्न होते हो। क्यों, ठीक यही है न? यही है तुम्हारी कामना, यही है तुम्हारी वासना। तुम यह सब भले ही करो; परंतु लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये मत करो, भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये करो। लोगोंको सुनानेके लिये भजन न बनाओ, भगवान्‌को सुनानेके लिये भजन बनाओ। तुम जो कुछ करो सो भगवान्‌के लिये करो और ऐसा करोगे तो तुम्हारा जीवन बदल जायगा। तुमने आजतक लोगोंको खुश रखनेके लिये बहुत कुछ किया। अब भगवान्‌को प्रसन्न करो। परोसनेवाला दूसरेको परोसता है, उससे उसका पेट नहीं भरता। अपने खाये बिना अपनी भूख मिटनेवाली नहीं। जीवको अनन्तकालसे भूख है भगवान्‌की। भगवान्‌को पाये बिना उसकी भूख मिटनेवाली नहीं और लाखों दूसरे उपायोंसे उसको शान्ति मिलनेवाली नहीं है। संसारको प्रसन्न करनेसे क्या मिलेगा? मनको प्रसन्न करो और मन पूर्ण प्रसन्न हो गया तो भगवान् मिले ही हुए हैं। यह निश्चय जानो। जिस प्रकार माँसे अलग होकर रोता हुआ शिशु थोड़ी देरके लिये खिलौनेसे प्रसन्न हो जाता है और फिर पीछे रोने लगता है, उसी प्रकार मन सम्पत्ति और मानसे थोड़ी देरके लिये प्रसन्न हो जाता है; परंतु पीछे क्लेशका ही अनुभव करता है। तुम जो कुछ भी करते हो, भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही करो।

६१—धनकी इच्छा, स्त्री-भोगकी इच्छा, स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा, कुटुम्बके भरण-पोषणकी इच्छा और यश तथा मान-प्राप्तिकी इच्छा—ये पाँच जिसमें नहीं होतीं, उसे सच्ची शान्ति मिलती है। इन पाँचोंमेंसे यदि एक भी होगी तो सच्ची शान्ति नहीं आने देगी। इसलिये धीरे-धीरे प्रयत्न करके इन पाँचोंका त्याग करो। तुम दूसरोंको पढ़ाते

हो, दूसरोंके सुधारकी चेष्टा करते हो, दूसरोंको उपदेश देते हो; परंतु तुम अपने मनको तो देखो। तुम्हारे मनमें उपर्युक्त पाँचों हैं कि नहीं। इन पाँचोंके गये बिना तुम्हें सुख मिलेगा ही नहीं।

६२—सगे-सम्बन्धी और स्नेही लोगोंकी भूल मत निकालो, उनको उलाहना मत दो। दूसरोंसे उनकी भूल मत कहो, दूसरोंके सामने तो उन्हें उलाहना दो ही मत। ऐसा करोगे तो स्नेह और मेल बना रहेगा। मान प्रदान करनेसे स्नेहका सम्बन्ध और मेल बना रहता है और बढ़ता है और आवश्यक सहायता तथा समयानुसार सेवा करनेसे स्नेह बढ़ता है। अपनेसे छोटे और अधीनको सुधारनेके लिये, भूल हो तो उसे मीठे वचनोंसे एकान्तमें भूल समझा दो, किंतु तिरस्कार-तकरार न करो।

६३—आत्मा तो नित्यमुक्त है ही और परमात्मा ही शरीरमें आत्मा कहलाता है। शरीर तो जड है। आत्माके समीपमें रहकर चित्त ही सारी क्रियाएँ करता है। आत्मज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय हुए बिना मोक्ष कभी नहीं होता, ऐसा शास्त्र कहते हैं; और ये तीनों एक-दूसरेके अवलम्बनपर रहते हैं। इसलिये आत्मज्ञानके बिना पूर्णतः वासनाका नाश नहीं होता और वासनाका नाश होनेपर ही मनोनाश होता है। अतएव साधकको चाहिये कि सत्संग, विचार और उपासनाके द्वारा आत्मज्ञान प्राप्तकर वासनाका नाश करे। वह इस प्रकारकी 'सारा जगत् जो दीख पड़ता है, वह परिणामशील और विनश्वर होनेके कारण क्षणिक और असत्य है और इसी कारण जगत्के पदार्थों तथा प्राणियोंसे कभी नित्य सुखकी प्राप्ति नहीं होती। आनन्द जगत्में नहीं है। आनन्दस्वरूप तो आत्मा ही है।' इस प्रकार विचार करते-करते आत्मा और परमात्माके सिवा किसी भी पदार्थ या प्राणीकी इच्छाका त्याग करे। इच्छामात्रका त्याग करनेसे, अर्थात् वासनाका नाश होनेसे मनका नाश हो जायगा और मनके निष्क्रिय हो जानेपर आत्माका दर्शन होगा। यह साधन नित्य करे और इसकी सिद्धिके लिये जप, ध्यान, सदाचार, एकान्त, सत्संग, विचार, सात्त्विक आहार और

परमात्माका आश्रय—इनका नित्य सेवन करे। पुण्यकर्म करे, पवित्र तीर्थोंका सेवन करे।

६४—रोज सबेरे, रात्रिको सोनेके पहले, मध्य रात्रिमें जागनेपर और सबेरे उषाकालमें उठकर नीचे लिखी क्रिया करे। हो सके तो इस प्रकार आसन जमावे। एकान्तमें पहले कुशासन, उसपर मृगचर्म और उसके ऊपर ऊनका आसन और उसके ऊपर सूती कपड़ेका आसन लगावे। ऐसा न हो सके तो जहाँ जैसा साधन हो, उसके ऊपर एकान्तमें बैठे और पद्मासन या वैसा ही सुलभ आसन लगावे, सीधा होकर बैठे, आँखें बन्द कर ले और मनसे कहे कि 'किसी प्रकारका विचार किये बिना भगवान्‌का दर्शन करनेकी बाट जोहते हुए एक चित्तसे बैठना है। तुझे कोई खास जरूरी काम हो तो उसे पहले ही कर ले।' इस प्रकार मनको सावधान करके आँख मीचे। यदि अन्धकार दिखलायी दे तो आँखें बन्द किये बैठा हुआ अन्धकारको देखता रहे। यदि मन किसी विचारमें लगना चाहे तो उसे रोके। जिस प्रकार किसीकी बाट जोहता हुआ मनुष्य एक चित्तसे टकटकी लगाकर देखता है, उसी प्रकार आँखें बन्द किये भगवान् अभी ही प्रकट होंगे इसी एक उत्सुकतासे अन्धकारको देखा करे। इस प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे वह अन्धकार दीखना बन्द हो जायगा और अनेकों प्रकारके दृश्य दिखलायी देने लगेंगे—जैसे विपुल तेज, चन्द्र, तारा, आकाश, बिजली, वर्षा, सूर्य आदि ज्योति इत्यादि, परंतु यह न समझे कि यह जो कुछ दिखलायी देता है, सो परमात्मा है। यह बिलकुल पक्की बात है कि जो कुछ दिखलायी देता है, वह परमात्मा नहीं, ऐसा करते-करते यदि साधक सगुण-साकार परमात्माका उपासक होगा तो जिस रूपमें उसकी श्रद्धा होगी, वही रूप धारण करके भगवान् उसे दर्शन देंगे और यदि वह निराकार-निर्गुणका उपासक होगा तो उसे आत्मदर्शन होगा और उसकी समाधिमें स्थिति हो जायगी। उपासकको साकार परमात्माके आकारका दर्शन होता है। कोई कहते हैं—आकार भगवान् नहीं है, आकार धारण करनेवाला भगवान् है। जिस प्रकार कपड़ा पहननेवाला

राजा होता है, परंतु कपड़ा राजा नहीं होता, उसी प्रकार रूप परमात्मा नहीं है, बल्कि रूपधारी परमात्मा है।* इसलिये रूपका अनादर न करके रूपके साथ रूपमें रहनेवाले अरूप परमात्मामें लीन होना चाहिये। यह अभ्यास जीवके अनेक जन्मका अन्त करनेवाला अन्तिम अभ्यास है, अतः इसमें जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। धीरज रखकर प्रतिदिन शान्तिसे करते जाना चाहिये। प्रयत्न करते रहनेसे भगवान्‌की कृपासे समय आनेपर फल मिलेगा।

इस क्रियाके करते समय किसी भी अंगको दबावे नहीं, नाक या कानको न दबावे। स्वाभाविक रीतिसे शान्त चित्तसे मुँह और आँखें बन्द करके बैठे। बैठनेका समय धीरे-धीरे बढ़ावे। जल्दबाजी न करे। आज पाँच मिनट तो महीनेभर बाद दस मिनट—इस प्रकार बढ़ावे। एक ही ध्यान रखे कि मनमें तरंगें न उठने पावें। उठें तो तुरन्त रोक दें। इस क्रियाको करनेवाला गृहस्थ हो तो विषय-भोगको कम करे। खाने-पीनेमें गरम मसाला, मिर्चा, भारी भोजन न करे। सात्त्विक आहार करे और वह भी अधिक परिमाणमें नहीं। इस क्रियामें बैठनेके पहले यदि पाखाना-पेशाबकी हाजत हो तो हो आवे। इस क्रियाके करनेकी जिसे इच्छा हो उसे बहुत श्रमवाला व्यावहारिक काम नहीं करना चाहिये। मन चिन्तारहित और प्रसन्न होना चाहिये। मन कामनारहित, भगवान्‌के प्रति भक्तियुक्त होना चाहिये। दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे बैठनेका समय बढ़ता जायगा वैसे-वैसे ही मनकी शक्तियाँ भी धीरे-धीरे बढ़ेंगी। दूरकी बात सुन पड़ेगी, दूरकी वस्तु दीख सकेगी, मनकी इच्छाएँ पूर्ण होंगी। दूसरे अपने अधीन रहेंगे, वाक्-सिद्धि प्राप्त होगी। संकल्प-सिद्धि होगी। पर इन सबोंमें यदि मन ललचाया तो जान लो कि पतन हो गया। ये सब भगवान्‌के मार्गमें विघ्न हैं, इसलिये इनका आदर न करे। अहंकार न करे। तमाशा करके लोकमें नाम कमानेकी इच्छा न करे। इनको अलग छोड़कर आगे बढ़ना

---

* वस्तुतः साकार भगवान्‌के रूपमें और भगवान्‌में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही सच्चिदानन्दस्वरूप तथा एक हैं। रूप भी वही और रूपधारी भी वही।

चाहिये और मनको शान्त रखना चाहिये। बाहर तो लोक तथा जगत्से मन सदा शान्त रहे और भीतर कामनाएँ न रहनेसे मन शान्त रहे इस प्रकार सदा शान्तमन रहे। इस बातको सदा लक्ष्यमें रखकर अभ्यास करते जाना चाहिये। इससे समयानुसार जगत् सिनेमाके दृश्यों-जैसा जान पड़ेगा और परमात्माका दर्शन होगा।

इस अभ्यासके करते समय सदा सीधा होकर बैठना चाहिये नहीं तो नींद आयेगी। इस अभ्याससे क्रोध कम होगा। इन्द्रियोंके भोग नीरस लगेंगे। व्यवहारकी बातें कम रुचिकर होंगी। शान्ति अधिक रहेगी। इस अवस्थामें जब साधक बैठे तब यदि मन दूसरी कोई बात न सुने, दूसरा कुछ न दीखे, दूसरी बात न जाने और दूसरा कुछ न विचारे तो समझना चाहिये कि साधन परिपक्व होता जा रहा है। अभ्यास करनेके बाद उठनेपर पता लगेगा कि मन दूसरी बात सुनता, देखता, जानता या विचारता था या नहीं। धैर्य धारण करके इस अभ्यासमें लगे रहना चाहिये।

६५—अब जाग्रत्-अवस्थाके दूसरे मनके लिये अभ्यास बतलाता हूँ। इस प्रकार रहो कि मनमें सदा प्रसन्नता बनी रहे। शरीरमें चित्त रहता है। वह शरीरसे बाहर चला जाय तो कहा जाता है कि मनुष्य मर गया। शरीरमें चित्त रहते समय यदि कोई अण्ट-सण्ट बोलता या बर्तता हो तो लोग कहते हैं कि उसका चित्त खिसक गया है; वह पागल जान पड़ता है। अब तीसरे प्रकारके ऐसे लोग हैं जिनका चित्त किसीके कुछ कहनेपर या विपत्तिमें या कामनामें एक बार अपनी जगह छोड़कर खिसक जाता है और फिर पीछे ठिकाने आ जाता है। ऐसे लोग संसारी कहलाते हैं। जब चित्त अपनी जगह छोड़कर खिसक जाता है, उस अवस्थामें मनुष्य जो कुछ बोलता है वह दुःखदायी होता है। खिसके हुए चित्तकी स्थितिमें ही क्रोध, शोक, विषाद, चिन्ता, तिरस्कार, अपमान और दुःख होता है। इन सारे द्वन्द्वोंका अनुभव करते हुए चित्तमें शान्ति और समझ आती है, तब वह अपने स्थानपर आता है और इन सबके लिये उसे परिताप होता है। अब रही चौथी अवस्था, जिसमें चित्त चाहे जो कुछ भी हो, परंतु अपने

स्थानको नहीं छोड़ता और सदा स्थिर रहता है, शान्त रहता है, दृढ़ रहता है। यह चित्तकी 'स्थितिप्रज्ञ अवस्था' है, यह उसकी समाहित अवस्था है। गीतामें कहा है कि जिसके चित्तकी अवस्था सुख-दुःखमें, मान-अपमानमें, शीत और उष्णमें तथा दूसरे द्वन्द्वोंमें सदा शान्त रहती है उसको परमात्मा नित्य समीप भासते हैं। यही एक लक्ष्य रखना चाहिये कि मन शान्त रहे। जगत्‌में चाहे जो हो, जिनको अपने आत्मीय समझते हैं उनको चाहे जो हो, परंतु मनको सदा प्रसन्न रखना चाहिये। इसका नाम है 'जाग्रत् समाधि'। सारे जगत्‌का नाश हो जाय तो चित्त ऐसा है कि उसे नया बना सकता है; क्योंकि जगत् तो किसीके चित्तकी ही सृष्टि है। चित्त कर्ता है, जगत् कार्य है। कार्यकी अपेक्षा कर्ताकी कीमत अधिक है। कार्यका नाश हो जाय तो कर्ता दूसरा कार्य खड़ा कर देगा, परंतु कर्ताका नाश हो जाय तो कार्य किस प्रकारसे हो सकेगा? इसलिये जगत्‌में सम्पत्ति, शान्ति और आनन्दकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि प्रत्येक उपायसे चित्तको नित्य शान्त तथा क्रोध, उद्वेग और शोकरहित बनाये रहे।

जगत्‌में बड़े-से-बड़ा वह है कि जिसका मन चलायमान नहीं होता। क्रिया जो कुछ भी करो पर करो स्वस्थ मनसे। स्वस्थ मनसे शुभ ही क्रिया होती है। जगत् रणक्षेत्र है। उसमें चित्त योद्धा है। जो चित्त जगत्‌के आघात और प्रलोभनोंसे अपनी जगहको छोड़कर भाग जाता है वह हारा हुआ और मारा हुआ है तथा इसलिये सदा दुःखी रहता है एवं जो सदा अडिग, अचल और जाग्रत् रहता है, वह सदा अपने समीप रहनेवाले परमात्माकी कृपासे नित्य आनन्दित रहता है। जो चित्त जगत्‌के आन्दोलनसे हार मानकर जड बन जाता है, वह नगण्य है। इसलिये वह तो नाशको प्राप्त होता है। अतएव प्रतिदिन अभ्यास करो, जिससे चित्त स्वस्थ, शान्त तथा सदा प्रसन्न रहे, कायर होकर दूर न भागे और योद्धाके समान बीचमें खड़े रहकर आघातको सहता हुआ जो अडिग डटा रहे, वह शूरवीर है। जो घरमें बैठा रहता है, जो रणक्षेत्रसे डरकर भाग जाता है, वह शूरवीर नहीं। तुम युद्धका प्रसंग खड़ा मत करो, युद्धका प्रसंग तैयार मत करो।

शूरवीर बिना कारणके युद्ध खड़ा नहीं करते, परंतु युद्ध आ पड़नेपर उसका स्वागत करते हैं। उसी प्रकार तुम भी जगत्‌में रहते हुए जो प्रसंग आ पड़े, उसमें धीर, शान्त और प्रसन्न चित्तसे खड़े रहकर कर्तव्यकर्म करनेके अभ्यासी बनो। इस प्रकारका अभ्यासी कांचन-कामिनीके कारण स्वधर्मसे चलायमान नहीं होता, परुष वचन सुनकर क्रोध नहीं करता, अपमानसे अस्वस्थ नहीं होता, लोभसे धर्मका त्याग नहीं करता। दुःखमें उसका धैर्य और उद्यम कम नहीं होता। वह सदा उद्यमी, सदा स्वस्थ और सदा भगवान्‌में लीन चित्तवाला होता है।

६६—शरीरमें अन्तःकरण ही शरीरको क्रिया करनेके लिये प्रेरित करता है और शक्ति प्रदान करता है। अन्तःकरणमें यह शक्ति निजी नहीं होती, बल्कि उसे यह शक्ति परमात्मासे मिलती है। परमात्मा कहें या आत्मा वह सबके शरीरमें है। अन्तःकरणमें दो शक्तियाँ हैं—इच्छाशक्ति और प्राणशक्ति। अन्तःकरणमें इच्छा ज्ञानके अधीन होती है। सबको सुखकी इच्छा होती है। वह सुख किस वस्तुमें है, क्या करनेसे मिलेगा, यह निश्चय करना उसके ज्ञानके अधीन है। पहले चित्त यह जानता है कि अमुक वस्तुमें सुख है। यह जानकारी उसे देखने, सुनने, बाँचने आदिसे होती है। अमुक विषयमें सुख मिलेगा यह जानकर ही वह मनसे उसका चिन्तन करता है। चिन्तन करनेसे उस वस्तुके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति उत्पन्न होनेसे उसके लिये इच्छा होती है, इच्छा होनेपर प्रयत्न होता है। प्रयत्न करते समय यदि विघ्न आते हैं तो उनका प्रयत्नके द्वारा ही नाश करता है और जिसका नाश नहीं हो सकता उसके प्रति क्रोध होता है। क्रोध होनेपर मोह होता है। मोह होनेपर बुद्धिमें भ्रम पैदा होता है। इस कारण बुद्धि सारासार, लाभ-हानि आदिका निश्चय नहीं कर सकती। मतलब यह है कि बुद्धि अपनी जगहसे खिसक जाती है और उस खिसकी हुई बुद्धिवालेका नाश हो जाता है। इस सारे क्रमको देखते हुए जीव जिसके संसर्गमें आकर जैसे संस्कारवाला होता है वैसा करनेकी उसकी बुद्धि होती है। इसीलिये जिसके-जिसके सम्पर्कमें इन्द्रियोंके द्वारा

मन आता है वैसे-वैसे संस्कार चित्तमें जमा होते जाते हैं। अतएव जिसको जैसा होना हो वैसा संस्कार जिससे मिले, उसके संसर्गमें आना चाहिये। मनुष्य व्यसनी होनेके पहले व्यसनीके संगमें, व्यसनसे आनन्द होता है—ऐसी बातें करनेवालोंके संगमें आता है। इन सब बातोंसे उस व्यसनके प्रति मनमें प्रीति उत्पन्न होती है और उसके बाद क्रिया होती है। सारी क्रियाओंके लिये यह मिसाल है। विषयोंमें जीव रचा-पचा रहता है, इसका कारण यह है कि विषयोंमें सुख है इस बातको बतानेवाला साहित्य वह देखता है, बाँचता है, सुनता है और जानता है। इस प्रकारके अनन्त जन्मोंके संस्कार अन्तःकरणमें भरे हैं। भोगोंमें दुःख है, जन्म-मरण हैं—आदि जानकर उससे मनको मोड़ना, उन सारे संस्कारोंका नाश करना, उनसे विरुद्ध संस्कार जहाँसे मिलें उन्हें लेना चाहिये।

एक ओर भोग हैं, जिनसे जन्म-मरण, सुख-दुःख आदिका चक्र चालू रहता है। दूसरी ओर भोगका त्याग है, जिससे मोक्ष मिलता है। यह मोक्ष भोगके त्याग, (एवं) सच्चे ज्ञानके बिना नहीं मिलता। मनुष्य जो उपवास करता है या व्रत-नियम लेकर भोग त्याग करता है, वह थोड़े समयके लिये होता है। अन्तःकरणमें—मनके भीतर तो भोगके सुखका रसास्वाद बना ही रहता है। समय आनेपर विशेष बलपूर्वक वह भभक उठता है। जबतक भोगोंके लिये मनके अन्दर रस नहीं चला जाता, तबतक भोगोंका त्याग नहीं होता। वह रस कब जाता है? जब कि आत्मा या परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। बालक लकड़ीके घोड़ेके उपयोगका आनन्द तभीतक मानता है जबतक वह सच्चे घोड़ेकी सवारी नहीं जान लेता। सच्चे घोड़ेका सवार होनेपर तो वह लकड़ीके घोड़ेको याद भी नहीं करता। उसी प्रकार आत्म-सुखका स्वार्थ प्राप्त होनेपर मन भोग-सुखका त्याग कर देता है। यह आत्म-सुख सत्संग, विचार, वैराग्य और भगवान्‌की भक्तिके बिना कभी नहीं मिलता। इसलिये नित्य ही इनका सेवन करना चाहिये।

६७—अन्तःकरणमें प्राण और इच्छा दोनों रहते हैं। प्राणसे क्रिया

करनेमें बल मिलता है और इच्छासे यह मालूम होता है कि वह क्रिया कैसे करनी चाहिये। यह अन्तःकरणका खोखला जिसमें प्राण और इच्छा दोनों रहते हैं, तीन गुणोंवाला होता है—सत्त्व, रज और तम। किसी भी जीवका अन्तःकरण—चींटीसे ब्रह्मापर्यन्त सभीका इन तीनों गुणोंसे युक्त होता है। किसीमें सत्त्व अधिक होता है, रज और तम थोड़ा। किसीमें रज अधिक होता है, सत्त्व और तम थोड़ा और किसीमें तम अधिक होता है और रज-सत्त्व थोड़ा। परंतु प्रत्येकमें होते ये अवश्य हैं। आहार, संग और संसर्गसे ये गुण प्रवेश करते हैं। ये तीनों गुण क्या-क्या क्रिया करते हैं और इन तीनों गुणवालेको क्या-क्या रुचता है, यह बात गीतामें कही गयी है। गुण तो ये तीनों सभीमें होते हैं; परंतु जिसमें जो विशेष गुण होता है, वह अपने अनुकूल क्रिया करता है। फिर इन गुणोंकी विशेषता नित्य, सब समय एक-सी नहीं होती। एक ही व्यक्तिमें कभी सत्त्वगुण विशेष छलकता है, कभी रजोगुण और कभी तमोगुण। इस चित्तको वश करनेका कोई दूसरा साधन जगत्में नहीं है, यह स्वतन्त्र है। यह चित्त स्वयं अपने-आप ही, अपने प्रयत्नसे ही शान्त होता है। चित्तमें तीन गुण होते हैं। उनमें तमोगुणको रजोगुणसे शान्त करना चाहिये। यानी रजोगुणसे युक्त सत्कर्मों और धार्मिक क्रियाओंसे दबाना चाहिये। रजोगुणको सत्त्वगुणसे शान्त करे और सत्त्वगुणको निर्गुणसे शान्त करे। ये सारी क्रियाएँ अपने-आपमें शान्त होती हैं—(१) सदाचारका पालन करना, (२) सत्संग करना, (३) धर्म-कर्म और भगवान्‌के निमित्त कर्म करना, (४) सात्त्विक आहार, सद्ग्रन्थोंका वाचन, सात्त्विक स्थानका सेवन, एकान्तवास और सत्पुरुषोंके सहवासमें रहना, (५) भगवान्‌की भक्ति करना और भगवान्‌के अनन्य शरण होना।

विवेक, विचार, भोग-त्याग, कर्मफल-त्याग और सत्य तथा प्रिय वाणीका सेवन—इन सबको करते-करते यह चित्त भगवान्‌में लीन होता है।

६८—दो अभ्यास बतलाता हूँ, इन दोनोंको सिद्ध करनेके लिये प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये—

१. सत्य बोलना और मीठा बोलना।

२. कभी क्रोध नहीं करना। घबराना नहीं। क्रिया जो कुछ भी करो पर शान्त चित्तसे, प्रसन्न मनसे। मतलब यह कि इस प्रकार बर्तना चाहिये कि मन सदा प्रसन्न रहे, सदा शान्त रहे। प्रतिदिन ध्यान रखो कि मन प्रसन्न और शान्त तो है? बोलनेके पहले यह देख लो कि जो कुछ बोलते हो वह सत्य और प्रिय तो है? यह अभ्यास सहज ही नहीं सिद्ध होता है। अनेक वर्षोंके प्रयत्नसे सिद्ध होगा, परंतु इसके सिद्ध किये बिना छुटकारा नहीं। इसलिये खूब धीरज और लगनके साथ इस अभ्यासको सिद्ध करनेका यत्न करना चाहिये।

६९—जैसा संग वैसा मन। इसलिये शान्त, सदाचारी और ज्ञानी भक्तका संग करना चाहिये। वैसा व्यक्ति न मिले तो भगवान्‌के अवतारकी कथाओंके ग्रन्थोंको बाँचना चाहिये। ज्ञान और भक्तिके ग्रन्थोंको बाँचना चाहिये। विषय-वासनाको निर्मूल करनेवाली पुस्तकोंको बाँचना चाहिये। जैसा बाँचोगे वैसा ही आचरण करनेकी बुद्धि होगी। जगत्‌की अनित्यता और आत्मा-परमात्माकी नित्यताको प्रयत्न करके बुद्धिमें उतारना है। मन सुखकी इच्छामें दुःखसे भरपूर जगत्‌के भोगोंकी ओर फँसा है। उसमेंसे उसे पीछे लौटाकर परमात्मा, जो आनन्दका भण्डार है, उसमें लगाना है। इस कार्यमें समर्थन प्रदान करनेवाले पुरुषोंका संग तथा पुस्तकोंका वाचन करना चाहिये। इसके विरुद्ध दूसरे संगोंका त्याग करना चाहिये।

७०—इच्छासे जन्म-मरण है। इच्छासे देहकी प्राप्ति है। चित्त भोगकी इच्छा करता है। शरीरके बिना भोग भोगा नहीं जा सकता, इसलिये जैसे भोगकी इच्छा की जायगी, उसीके अनुकूल भोग भोगनेवाले शरीरकी प्राप्ति होगी। इसलिये जीवनमें इच्छाओंको शान्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके तीन अभ्यास हैं—पहला, मनको निर्विचार, निःसंकल्प-अवस्थामें बैठानेका अभ्यास-प्राणायाम, ध्यान-समाधि आदिके द्वारा

करना। यह अभ्यास स्वतन्त्र नहीं है। इस अभ्याससे उठनेके बाद मन इच्छाएँ करने लगता है और इस अभ्यासकी विलक्षणता यह है कि इससे इच्छाको झट सिद्ध करनेकी शक्ति आ जाती है। इसलिये यह मार्ग देखनेमें तो रोचक है पर भयंकर है और स्वतन्त्ररूपसे इच्छात्याग या मोक्षकी प्राप्तिके लिये सीधा मार्ग नहीं है। दूसरा मार्ग है निष्काम भक्तिका। भगवान् जो अखिल विश्वके कर्ता, नियन्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् आदि गुणोंसे युक्त हैं; उनके निराकार या साकाररूपकी उपासना करके, उनके सिवा अन्य सारी इच्छाओंका त्याग करके, उन्हींको ही प्राप्त करनेकी इच्छासे, इसके सिवा अन्य सारी इच्छाओंके त्यागकी धीरे-धीरे चेष्टा करनी चाहिये। यह मार्ग विशेष सहज है। इसमें आनेवाले विघ्नोंको उसके उपास्यदेव नष्ट कर देते हैं। इस मार्गमें एक बार पड़ जानेवाले चित्तको उसका इष्ट अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस मार्गद्वारा चित्त इच्छारहित होकर परमपदमें प्रवेश करता है। तीसरा मार्ग है—विचारमार्ग, जिसको ज्ञानमार्ग कहते हैं। इसमें वैराग्यकी, तीव्र बुद्धिकी तथा तपकी विशेष आवश्यकता होती है। मैं वही सत्य और अविनाशी-पद-स्वरूप परब्रह्म हूँ और जो कुछ है या होगा, वह सब नाशवान्, मिथ्या और मायामय है और इस कारण दुःखरूप है, इसलिये उसकी इच्छाका त्याग करके इच्छारहित मनसे निःसंकल्प हो रहना चाहिये। वह अभ्यास उपर्युक्त दोनोंसे ही सहज जान पड़ता है पर है बहुत कठिन और इस मार्गमें चलनेवाले कब लुट जायँ; कब बेहाल हो जायँ, यह बात समझमें नहीं आती। इस कालमें उत्तम-से-उत्तम यह है कि पहले और अन्तिम मार्गको गौणरूपसे यानी साधनके रूपमें उपयोग करके मध्यमार्गको मुख्यरूपमें माने और भक्ति, ईश्वरका ध्यान, ईश्वरका ज्ञान—इन तीनोंके साथ भक्तिमार्गका साधन करे।

तुमको जो मार्ग अच्छा लगे, उसीपर चलनेकी चेष्टा करो। पर करोड़ों उपाय करनेपर भी भोगकी इच्छाका त्याग किये बिना—सुखकी इच्छा त्यागे बिना—अखण्ड शान्ति, अखण्ड आनन्द, मोक्षकी प्राप्ति

होगी ही नहीं। सारे शास्त्रोंका लक्ष्य इच्छात्यागके रहस्यमें है। इच्छात्याग और मनकी शान्ति—दोनों परस्पर सम्बन्धवाले हैं; अतः साथ ही सिद्ध होते हैं। इच्छा और व्याकुलता दोनोंका त्याग किये बिना करोड़ों खर्च करनेपर भी मनको सच्ची शान्ति या सच्चा सुख अथवा आनन्द नहीं मिलेगा।

७१—ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं, इसे पक्का समझो। ज्ञान यानी यह यथार्थ ज्ञान तभी होता है जब चित्त निर्मल होता है। निर्मल चित्तमें जो ज्ञान स्फुरित होता है, वह यथार्थ ज्ञान कहलाता है। फलकी इच्छाके बिना दान, तप, पुण्य-कर्म और उपासना—ये सब चित्तको निर्मल करनेके साधन हैं। चित्तको मलिन बनानेवाली तो इच्छा है और चित्तको निर्मल बनानेवाला इच्छाका त्याग है। इच्छाके त्यागके बिना लाखों अन्य उपायोंसे चित्त निर्मल नहीं होता और चित्तके निर्मल हुए बिना करोड़ों अन्य उपायोंसे सच्चा ज्ञान नहीं होता। सच्चा ज्ञान निर्मल चित्तमें काहेसे होता है, यह जानना चाहिये। कोई कहेंगे ज्ञान पुस्तकमें लिखा है। दुनियामें जो पुस्तकें लिखी गयी हैं, वे बुद्धिसे लिखी गयी हैं। बोलनेवाली और सिखानेवाली तो बुद्धि ही न है? और वह बुद्धि जड है न? परंतु वह बुद्धि भगवत्स्वरूप आत्माके पास रहकर उसके द्वारा ही सब कुछ जानती है। आत्मा ज्ञानका खजाना है, ज्ञानस्वरूप है। आत्मासे अखिल जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है। आत्मासे ही ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रकार निर्मल शीशा वस्तुको यथार्थरूपमें दिखला देता है, उसी प्रकार निर्मल चित्तमें आत्मा यथार्थतः प्रकाशित होता है। आत्मा कल्पवृक्ष है, आत्मा चिन्तामणि है, आत्मा कामधेनु है। निर्मल चित्तमें जो-जो कल्पनाएँ होती हैं, उन्हें आत्मा सिद्ध कर देता है, परंतु उसी निर्मल चित्तसे कामनाओंको सिद्ध करने जाते ही, इच्छाओंके खड़े होते ही चित्तकी निर्मलता मिट जाती है, वह मलिन हो जाता है और उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इसलिये शुद्धचित्तमें इच्छाओंको उठने न देना और शुद्धचित्तको आत्माके समीप

रखना बन पड़े तो यथार्थ ज्ञानकी और प्राप्ति हो सकती है और उस ज्ञानके उद्भवके साथ ही मुक्ति प्राप्त होती है।

ज्ञान दो प्रकारका है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। निर्मल चित्तवालेको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वह जगत्‌को और अपनेको यथार्थरूपमें समझता है। समस्त कामनाओंका त्याग करके या तो भगवान्‌की उपासना करनेसे या ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरुकी सेवासे ज्ञान प्राप्त होता है। सद्‌गुरुकी सेवा करनेसे गुरु महाराज प्रत्यक्ष बोध प्रदान करते हैं। इन दोनों उपासनाओंके सिवा तीसरा मार्ग नहीं है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। गुरुकी उपासना भी परमात्माके ही रूपमें करनी पड़ती है। गुरुके हाड़-मांसके शरीरमें रहनेवाले चैतन्यदेवकी ही उपासना करनी पड़ती है। भगवान्‌की मूर्तिमें रहनेवाले चैतन्यदेवकी ही उपासना करनी पड़ती है। आपाततः रीति कुछ जुदी है। इन दोनोंमें निष्कामसेवा करनेवालेको अथवा मोक्षकी इच्छासे सेवा करनेवालेको अपने आत्मामें ही काल-क्रमसे ज्ञान स्फुरित होता है। उसे ऐसा मालूम होता है कि कोई भीतरसे कह रहा है। इस प्रकारसे उपासना करनेवालोंको उपास्यदेव बलात् शुद्ध ज्ञान प्रदान करके मुक्ति देता है। इसलिये जो कुछ कर्म या उपासना, दान-पुण्य, भजन-कीर्तन या तप आदि करे, फलकी इच्छासे रहित भगवान्‌की प्राप्ति या मुक्तिकी प्राप्तिके निमित्त करे। ऐसा करते रहनेपर कालक्रमसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी। किया हुआ कार्य असफल नहीं होता। निष्काम उपासना अवश्य ही मुक्ति प्रदान करती है, इसलिये करनेमें लग जाओ और धीरज धरकर प्रयत्न तथा लगनसे उसीमें लगे रहो।

७२—अप्रसन्न चित्त होते ही बुद्धि अपनी जगहसे खिसक जाती है। भ्रमित हो जाती है। बुद्धि अपने सन्तुलनको खो देती है। सारासारका विचार नहीं रह जाता। न बोलनेयोग्य बातें बोल बैठता है, न करनेयोग्य काम कर बैठता है। यह सब अप्रसन्न चित्तसे होता है तो फिर चित्तको सदा प्रसन्न कैसे रखा जाय? चित्तको अप्रसन्न करनेवाले मनुष्य मिलेंगे ही, ऐसे प्रसंग आवेंगे ही, चित्त अप्रसन्न हो ऐसी बातें होंगी ही। चित्तको

अप्रसन्न करनेवाले संयोग किसीको न प्राप्त हुए हों, क्या ऐसा कहीं हुआ है? शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मरण, जरा और व्याधि सबका आना-जाना होगा ही, इन द्वन्द्वोंके बीच चित्त किस प्रकार प्रसन्न रह सकता है? इसीके लिये शास्त्रोंका अभ्यास और सत्संग है। इतना ही जाननेके लिये है। शास्त्र और सन्त कहते हैं कि अनुकूल और प्रतिकूल तो होते ही रहेंगे पर उन सबसे तुम असंग हो, तुम आत्मा हो, उनका तुमपर कोई असर नहीं है, उनका असर तो शरीरपर है। तुम तो नित्यमुक्त, शुद्धबुद्ध, निर्मल आत्मा हो, अविनाशी हो, निर्विकार हो। चित्तमें यह ज्ञान जिस परिमाणमें बनेगा, उसी परिमाणमें चित्तमें प्रसन्नता रहेगी। आत्मज्ञानके बिना चित्तमें नित्य प्रसन्नता रहती ही नहीं। गीता और सांख्यदर्शन तथा दूसरे शास्त्र बतलाते हैं कि 'मैं असंग हूँ, आत्मा हूँ—यह दृढ़ निश्चय किये बिना सच्ची प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दकी आशा करना व्यर्थ है।

७३—विचारसागर या पंचीकरण घोख (रट) कर बोलनेसे कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। अथवा वेदान्तकी पुस्तकोंको पढ़कर कण्ठाग्र करके बोलनेसे कोई ज्ञानी नहीं बन सकता। इस लोक या परलोककी कोई कामना जिसके चित्तको आकर्षित नहीं कर सकती वही ज्ञानी है। जिसका चित्त कामनारहित होनेके कारण निर्मल और शान्त है, जिसकी सारी आशा-तृष्णा शान्त हो गयी है, वह ज्ञानी है। ज्ञानीमें मान नहीं होता, दम्भ नहीं होता। उसमें अहिंसा, क्षमा, सरलता सदा रहती है, गुरुजनकी उपासना होती है, पवित्रता होती है, स्थिरचित्त होता है, मनोनिग्रह होता है, इन्द्रियोंके भोगोंके प्रति वैराग्य होता है, अहंकारका अभाव होता है, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिके कारण शरीरमें और संसारमें जो दुःख और दोषोंको बारम्बार देखता है, पुत्र-स्त्री और घर आदिमें जिसकी आसक्ति नहीं है, अच्छे-बुरे संयोगोंमें जिसका चित्त स्थिर और शान्त रहता है, भगवान्‌में निष्काम भक्ति होती है, एकान्त-सेवन होता है, जनसमुदायमें जिसे प्रीति नहीं होती है, जिसमें आत्मज्ञान और

तत्त्वज्ञान वास करता है, ऐसे ज्ञानीके लक्षण गीताके तेरहवें अध्यायमें कहे गये हैं। इनको साधक अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करे। चित्तके भोगमें आकर्षणका ही नाम जन्म-मरण है और चित्तको परमात्मामें लीन करनेका नाम मोक्ष है। इसलिये प्रत्येक उपायसे चित्तको भोगसे खींचकर परमात्मामें लगाओ। इस अभ्याससे सच्ची शान्ति, सुख, आनन्द और मुक्तिकी प्राप्ति होगी।

७४—अब चित्तके शान्त होनेका उपाय बतलाता हूँ। जहाँ प्राकृतिक वातावरण हो, जहाँ बैठकर महापुरुषोंने तप किया हो, ऐसे नदी, तालाब, सरोवर, समुद्र, पर्वत आदिके समीप तीर्थस्थानोंमें जाना चाहिये। वहाँ जानेपर वहाँके उपद्रवरहित वातावरणसे चित्तमें शान्ति आयेगी। वहाँ जाकर भी खाने-पीने और भोग-विलासमें समय नहीं लगाना चाहिये। वहाँ जाकर दान-पुण्य, सत्संग, भगवन्नामका जप आदि करे। भोगका त्याग करे। ब्रह्मचर्यका पालन करे। भारी भोजन न करे। हो सके तो फलाहार या एक वक्त भोजन करे। इस प्रकार किया हुआ तीर्थ-सेवन मनको शान्त करके मोक्षके मार्गमें ले आता है।

दूसरे किसी-न-किसी इष्टदेवकी उपासना करे। बेकार समयमें घूमते-फिरते और काम करते सदा इष्टदेवके नामका जप करे और प्रतिदिन नियमित बैठकर भी करे। भगवत्कथाका श्रवण करे, कीर्तन करे, भगवान्‌की मूर्तिका प्रेमसे दर्शन करे, प्राणिमात्रके प्रति प्रीति और दया रखे। भगवान्‌के मन्दिरको झाड़ना-बुहारना, साफ-सुथरा रखना, हो सके और शक्ति हो तो नया मन्दिर बनवाना, पुरानेकी मरम्मत कराना। यदि यह न हो सके तो दूसरे जो ऐसा काम करते हों उसमें सहायता करना। ऐसा काम करना कि जिससे प्राणिमात्रको सुख पहुँचे। दूसरे करते हों उसमें मदद करना। जिसका सम्पर्क हो प्रसन्नचित्तसे उसके साथ काम करे, हँसकर अलग हो किसीको धोखा न दे। किसीका कुछ ले नहीं; मीठी और सत्य वाणी बोले। सबको या तो भगवत्-स्वरूप जाने या आत्मस्वरूप। किसीका तिरस्कार न करे, किसीका अपमान न करे। जो बन पड़े, सो दे डाले।

जितनी बन पड़े भलाई करे। काम-धन्धा अपने धर्मानुसार करता रहे और भगवान्‌का भजन करता रहे। देव, ब्राह्मण, गाय, गुरु, पूज्यजन, रोगी, बालक और आश्रित लोगोंका सम्मान करे और उनको संतोष दे। गुणोंको अपनेमें उतारे। सद्‌गुणसे सुख होता है और दुर्गुणसे दुःख होता है। चित्तकी शान्ति ही सुख है। चित्तकी अशान्ति ही दुःख है। इसलिये प्रत्येक उपायसे अपने दुर्गुणको निकालकर सद्‌गुणको धारण करे। इसीसे सच्ची शान्ति होगी।

७५—शास्त्र, पुराण तथा वैसे ही दूसरे धार्मिक ग्रन्थ या इतिहास पढ़े। उनमें लिखी बातें सच्ची हैं या झूठी, इसका विचार और चर्चा करने न बैठे केवल उनका सार ग्रहण करे। उनमें जो लम्बा वर्णन मिलता है सो सार समझनेके लिये ही। कुछ बातें तो ऐसी होती हैं, जो सच्ची नहीं जान पड़तीं। कितनी ही बातें ऐसी भी होती हैं, जिनसे देवताओंमें अश्रद्धा उत्पन्न होती है। तुमको तो इन सबमें इतना ही जानना है कि ऐसे-ऐसे सामर्थ्यवाले और तपके भण्डार देवता तथा देवता-जैसे दूसरे लोग भी चले गये तो मेरी क्या गिनती है। जिसने जन्म लिया है वह तो मरेगा ही। जो माया है वह अदृश्य होगी ही। जिसका संयोग है उसका वियोग होना ही है। यह सब तो होता ही रहेगा। सब ही निर्मित है। सिनेमाका फिल्म जिस प्रकार निश्चित है और पर्देके ऊपर कुछ नहीं होनेपर भी उसमें नदी, जंगल, पहाड़, शहर और प्राणिमात्र दिखलायी पड़ते हैं। बोलते, चलते-फिरते और काम करते दीख पड़ते हैं, वे सब जिस प्रकार असत्य हैं और वहाँ सफेद पर्देके सिवा सच्चा कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार यह जगत् परमात्मारूपी पर्देके ऊपर चेष्टा करता दीख पड़ता है पर वह मिथ्या है—नाशवान् है। वास्तविक तो परमात्मा है। जगत् जो दीख पड़ता है, वह तो दीखता ही रहेगा। वह रुकेगा नहीं, सदा चलता ही रहेगा। सब निश्चित है। जो कुछ होनेवाला है, वह निश्चित है। इसलिये मनको शान्तकर भटकना छोड़कर देखा करो कि मैं 'आत्मा हूँ, जगत्‌से असंग हूँ,

परमात्माका अंश या तद्रूप हूँ।' इसका अभ्यास करते हुए सदा आनन्दमें रहनेका अभ्यास करो।

७६—संसारका अनुभव तो चित्त करता है। सुख-दुःख, जन्म-मरण सबका चित्तको ही अनुभव है। यह चित्त शस्त्रोंसे नहीं मरता है। विष देनेसे नहीं मरता। पानीमें डूबता नहीं। आगमें जलता नहीं। किसी लौकिक उपायसे नहीं मरता। शरीरके मरनेपर भी यह नहीं मरता। एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। इस प्रकार लाखों शरीरोंको धारण करता और त्याग करता है पर वह थकता नहीं और जहाँ जाता है वहीं नया बन जाता है। इस स्थूल शरीरके द्वारा यह भोग भोगता है। चित्तकी खुराक हैं इच्छाएँ। जैसी इच्छाएँ होती हैं वैसे ही उसका विस्तार बढ़ता है। इच्छाओंको भोगनेके लिये उनके अनुरूप देह धारण करता है। भोग भोगते थकता नहीं—तृप्ति होती ही नहीं। सुखके लिये भोगकी इच्छा करता है और भोगको पाकर तथा भोगकर सुखके बदले दुःख पाता है। अब यदि इच्छा करना छोड़ दे तो इस भूल-भुलैयासे छूट जाय, नहीं तो करोड़ों उपायोंसे यह चित्त मरनेवाला नहीं है और जबतक चित्त मरता नहीं, तबतक सच्ची शान्ति नहीं होती। परमात्मारूपी सागरमें चित्तरूपी बुद्बुदा फूलता-फलता है। उसमें इच्छाओंका गोट भरा है। इच्छाएँ चली जायँ तो वह परमात्मामें, अखण्ड आनन्दमें समा जाय और इच्छाएँ खड़ी होती रहेंगी तो शरीर धारण करता ही रहेगा। सुख-दुःख, जन्म-मरण होते ही रहेंगे।

सांख्य, योग, वेदान्त और भक्तिमार्ग तथा दूसरे जो भी मार्ग हों, सब चित्तसे इच्छाओंका त्याग करानेके लिये ही हैं। बड़े-से-बड़े देवताका शरीर क्यों न हो, उसमें इच्छाएँ हुईं कि सुख-दुःखका रगड़ा चालू हुआ। देवता, दैत्य, मनुष्य तथा प्राणिमात्रको सुख-दुःख तो होते ही रहेंगे। तुम जिस लोकमें जाकर शरीर धारण करोगे, वहीं सुख-दुःखका रोना-पीटना तुम्हारे साथ ही पहुँचेगा। शरीरका अर्थ है सुख-दुःखका अनुभव करानेवाला चोला और जबतक यह चित्त नामका लिंगशरीर इच्छात्यागके द्वारा

छूटता नहीं तबतक जन्म-मरण नहीं मिटता। इसलिये प्रत्येक उपायसे इच्छात्याग करनेका अभ्यास करो। ऐसा अभ्यास करो कि चित्तमें संकल्प न उठे और वह शान्त बैठा रहे। यह कार्य कठिन है। अतिशय कठिन है, परंतु इसके किये बिना छुटकारा नहीं। विचित्रता तो यह है कि संकल्पके बिना चित्त बैठा रहे और थोड़े समयके बाद उठ खड़ा हो तो उसका संकल्प निःसंकल्पतासे उत्पन्न हुई शक्तिके परिमाणमें फलीभूत हो जाता है। जोर पकड़ता है और उसका वेग बढ़ता है। इसलिये वह बहुत दुःखदायी है। योगी, तपस्वी, भक्त यहाँ पहुँचकर अटक जाते हैं। बहुत दिनोंतक संकल्परहित रहनेपर चित्तका संकल्प सिद्ध हो जाता है। उसको सिद्धि कहते हैं। यह सिद्धि साधककी सच्ची दुश्मन है। उसको मार्गसे हटानेवाली है और मोक्षके मार्गमें पूरी विघ्नरूप है; इसलिये इसका त्याग करना चाहिये। इस सिद्धिके बलसे चमत्कार करनेवाले, आशीर्वाद और शाप देनेवाले, तमाशा दिखानेवाले—सभी पामर इच्छाओंके दास ईश्वरीय मार्गसे भ्रष्ट हुए दयाके पात्र हैं।

७७—एक ओर है प्रकृति, दूसरी ओर हैं परमात्मा। बीचमें जीव है। जीव प्रकृतिसे ललचाता है और यह समझकर कि उससे शाश्वत सुख, शान्ति और आनन्द मिलेगा, प्रकृतिके भोगोंको भोगता है। उनको भोगनेपर जब सुख-शान्ति और आनन्द नहीं मिलता तब वह उससे मुँह फेरकर परमात्माकी ओर मुड़ता है और वहाँ ठीक न लगनेपर फिर प्रकृतिकी ओर मुड़ता है। इस प्रकार जीवकी गति इधर-से-उधर और उधर-से-इधर हुआ करती है। प्रकृतिको छोड़कर परमात्माकी सेवा करनेवाले साधक चार प्रकारके होते हैं। पहले दुःखी—जो प्रकृतिसे दुःखी होकर उस दुःखसे छूटनेके लिये परमात्माकी शरण लेते हैं। दूसरे जिज्ञासु—जो समस्त प्रकृतिको दुःखरूप जानकर उससे छूटनेके और भगवत्प्राप्तिके अभ्यासमें लगे हुए हैं। तीसरे हैं अर्थी—जो यह समझते हैं कि परमात्मासे अमुक प्रकारकी वस्तुको प्राप्तकर मैं सुखी हो जाऊँगा। इसलिये उस वस्तुके लिये वे परमात्माकी उपासना करते हैं और चौथे हैं ज्ञानी—

ज्ञानीको यह निश्चय हुआ रहता है कि प्रकृतिके भोग नाशवान्, मिथ्या और दुःखदायी हैं। इसलिये उनकी इच्छामात्रका त्याग करके वे निरन्तर परमात्माकी भक्ति करते रहते हैं। दुःखी और अर्थी दुःखके निवारण और अर्थकी प्राप्तिके लिये परमात्माको भजते हैं और यथार्थ भक्तिके द्वारा सफलमनोरथ होते हैं; परंतु परमात्माकी कृपासे दुःखकी निवृत्ति और अर्थकी प्राप्ति होनेके कारण वे परमात्माके संसर्गी, प्रेमी और शरणागत हो जाते हैं और इससे वे दोनों ही प्रकारके पीछे अत्यन्त श्रद्धासे परमात्माकी निष्काम सेवा करते हैं और अन्तमें परमात्माको पाते हैं; क्योंकि दुःखकी निवृत्ति और अर्थ (भोगके साधनों)-की प्राप्तिमें वे परमात्माके सिवा अन्य किसी आधारको नहीं जानते-देखते। इसलिये उनकी परमात्मामें विशेष दृढ़ भक्ति हो जाती है।

७८—लड़के लट्टू फिराते हैं। तुमने कभी लट्टू फिराया है? कभी देखा है? नहीं देखा है तो देख लेना। लट्टू हाथमें लेकर उसमें डोरी लपेटकर लड़का फेंकता है। लड़केके हाथसे लट्टू छूट जाता है, परंतु उस लकड़ीके लट्टूमें पैठी हुई शक्ति उस लट्टूको धुरीपर गोल चक्कर कराती हुई नचाती है। आगे-पीछे घुमाती है, ऊँचा-नीचा करती है। लकड़ीकी शक्ति किस प्रकार लट्टूमें पैठी और पहले ऐसे फिरना, तब वैसे फिरना यह सारी विधि उसके भीतर कैसे आयी? यह सब बातें फिरानेवाला नहीं जानता; उसी प्रकार यह ब्रह्माण्डरूपी लट्टू परमात्माके द्वारा प्रविष्ट करायी हुई शक्तिके द्वारा फिर रहा है। निश्चित नियम और गतिसे ब्रह्माण्डरूपी लट्टू फिरा करता है, रुकता नहीं; कुछ समझमें नहीं आता। प्रतिदिन ये तारा, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य—सभी बिना गिरे कैसे घूमा करते हैं। कौन इनको घुमाता है? सारे प्राणी रात-दिन जीवन-पथमें किसी-न-किसी प्रवृत्तिमें लगे रहते हैं, मृत्युपर्यन्त कभी उन्हें अवकाश नहीं मिलता और तुम भी तो उन्हींमेंसे एक हो न? तुम जरा-सा खड़े रहो। विचार करके देखो, तुम यह सब क्या कर रहे हो? तुम्हारा ध्येय क्या है? तुम किधर जा रहे हो? तुम्हारा मार्ग तुम्हें ध्येयकी ओर ले जा रहा है या

तुम जहाँ–के–तहाँ गोल चक्कर लगा रहे हो ? देखो और विचारो। ध्येय और ध्येयके मार्गका निश्चय करो और उसी रास्तेसे जानेके लिये पूरा प्रयत्न करो। तुम चिरकालतक प्रयत्न करते–करते मंजिलको पार करके ध्येयको प्राप्त करोगे। प्राणिमात्रका ध्येय तो अखण्ड आनन्द है। उसे प्राप्त किये बिना तुम्हें शान्ति नहीं मिलेगी। शेष सब कुछ तो दृश्य है, वह तो लट्टूके समान घूमता ही रहेगा। रोकनेसे वह रुकनेवाला नहीं। केवल तुम जो इस दृश्यसे अलग हो, इस वेगसे किनारे जाकर परमात्माकी भक्ति करके उसे प्राप्त करो।

७९—जिसके चित्तमें कभी विकार नहीं होता वह सदा मुक्त है। चित्त सदा प्रसन्न रहे, ऐसा अभ्यास करो। इस अभ्यासके लिये जिनसे चित्त अप्रसन्न होता हो उन सबका त्याग करो।

१. अत्यधिक अयुक्त परिश्रम करनेसे चित्त अप्रसन्न होता है। इसलिये कभी ऐसा परिश्रम नहीं करना चाहिये जिससे विशेष थकावट आ जाय।

२. दूसरेकी अनुमतिके बिना, दिये बिना, मेहनतके बिना और अधिकारके बिना मुफ्तमें किसीकी चीज लेनेसे चित्त अप्रसन्न होता है। इसलिये ऐसी चीज कभी न लो। यदि कोई कहता है कि बिना मेहनतके प्राप्त करनेसे चित्त राजी रहता है तो वह भूल है। चित्तका राजी होना और चित्तका प्रसन्न होना, ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं। जिसके परिणाममें चित्तमें ग्लानि और चिन्ता न हो और प्रसन्नता मिले, उसे ही सच्ची प्रसन्नता जाननी चाहिये।

३. दूसरेको दुःख देनेसे चित्त अप्रसन्न होता है, इसलिये इसका त्याग करो।

४. सत्य और प्रिय वाणीसे, दान देनेसे, दया करनेसे, इन्द्रियों और मनका निग्रह करनेसे, दूसरेको मान देनेसे और हरिका भजन करनेसे चित्त प्रसन्न होता है, अतएव इन सबका आचरण करो।

५. किसीका अपमान करनेसे चित्त अप्रसन्न रहता है, इसलिये उसका त्याग करो।

६. गरिष्ठ पदार्थ विशेषरूपमें खानेसे चित्त खिन्न होता है, इसलिये उसका त्याग करो।

७. बेकार बोलनेसे, व्यर्थ वाद-विवाद करनेसे, किसीके साथ वैर करनेसे, किसीका अहित करनेसे तथा चोरी, दुराचार, झूठ, दुर्व्यसन और दुर्जनका संग करनेसे चित्त अप्रसन्न रहता है, इसलिये इसका त्याग करना चाहिये।

८. उद्यमहीन रहनेसे, स्त्रीका विशेष सहवास करनेसे और विशेष प्रसंग या आवश्यकता बिना दूसरेका अन्न खानेसे चित्त अप्रसन्न रहता है, इसलिये उसका त्याग करो।

८०—शरीरमें क्रियामात्रका करनेवाला, सारे अनुभवोंका करनेवाला, एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेवाला चित्त ही है। इस चित्तमें तीन गुण हैं। चाहे चींटीका शरीर हो या देवताका, प्रत्येक शरीरधारीके चित्तमें तीन गुण बसे होते हैं। न्यूनाधिक हो सकते हैं। तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। तमोगुणप्रधान चित्तको आलस्य, तन्द्रा, अज्ञान, क्रोध आदि होते हैं। रजोगुणप्रधान चित्त कर्ममें रचा-पचा रहता है और सत्त्वगुणप्रधान चित्तमें सुख, शान्ति और ज्ञान आदि प्रकट होते हैं। चित्तमें रहनेवाले ये तीनों गुण कम-ज्यादा हो सकते हैं। रजोगुणके सेवनसे तमोगुण कम होता है। सत्त्वगुणके सेवनसे रजोगुण कम होता है और सत्त्वगुण निष्कामभावके आचरणसे कम होकर निर्गुणताको प्राप्त होता है। अतएव सुख, शान्ति और ज्ञान तथा इनके द्वारा मोक्षकी इच्छा रखनेवालेको चाहिये कि सात्त्विकताको बढ़ानेवाली वस्तुओंका सेवन करे। सत्त्वगुणके बढ़ानेवाले ही आहार और संसर्गका सेवन करे। निष्काम भक्ति और सत्त्वगुणको बढ़ाकर अन्तमें निर्गुण बनाकर मोक्ष प्रदान करते हैं। तमोगुण और रजोगुणको दबाकर चित्तमें सत्त्वगुणकी वृद्धि किये बिना, सात्त्विक नियमित आहार-विहार और सत्संगके बिना, परमात्माकी निष्कामभक्ति किये बिना, सत्य, तप, दया और दानका सेवन किये बिना एवं मन तथा इन्द्रियोंका निग्रह किये बिना परम पदकी प्राप्ति नहीं होगी।

८१—चित्तको जगत्‌मेंसे खींचकर परमात्मामें लगानेका नाम योग है। योगका अभ्यास करनेवालेका आहार नियमित होना चाहिये, सात्त्विक होना चाहिये। जिससे चित्तमें विक्षेप हो वैसा आहार नहीं करना चाहिये। अधिक आहार तथा रजोगुणी और तमोगुणी आहारसे चित्तमें विक्षेप होता है, अतएव उनका त्याग करना चाहिये। ऐसा भूखा भी नहीं रहे कि चित्त भूखमें ही लगा रहे और विक्षिप्त रहे। काम भी वैसा ही और उतना ही करे जितना उकताये बिना प्रसन्न चित्तसे हो जाय। बहुत जागरण भी न करे, बहुत नींद भी न ले। विशेष सोनेसे तमोगुण बढ़ता है और चित्त अप्रसन्न होता है, बहुत जागरण करनेसे भी चित्त विक्षेपको प्राप्त होता है। अतएव दु:खका नाश करनेवाली भगवत्प्राप्तिके योगकी साधना करनेवालेको चाहिये कि चित्तपर दृष्टि रखे और जिसमें चित्त सदा प्रसन्न रहे उसी हिसाबसे सारी क्रियाएँ करे।

८२—तुमको लोग प्रमुख बनावें, मान प्रदान करें। तुम्हें राजा-महाराजाकी ओरसे मान मिले और खिताब मिले, लोगोंमें तुम्हारी वाहवाही हो। सब यह कहें कि 'आप हमें ज्ञान दीजिये, हमें मार्ग दिखाइये, हमारी सँभाल रखिये, हम आपसे सनाथ हो गये हैं, आपके बिना हमारी कोई गति नहीं है।' तुमको फूलोंकी माला पहनायी जाय, लोग तुम्हारा पैर छुएँ। तुम्हें भगवान्-जैसा या भगवान् ही समझें—यह सब हो तो इससे फूल मत जाना। यह सारा आकर्षण तुम्हारे पतनके लिये है। तुम तो भगवान्‌के नियुक्त किये हुए उनके नौकर हो। यश मिले तो वह उसका है। तुम्हारे हृदयमें बैठा हुआ जो तुम्हें प्रेरित करता है और कार्य करनेकी शक्ति प्रदान करता है, वही दूसरेमें है। तुम अपनेमें कोई विशेषता मान लोगे तो वही तुम्हारा पतन है। जैसे तुम्हारा शरीर पंचभूतोंका है, उसी प्रकार दूसरोंका भी है। जिस प्रकार तुम्हारा आत्मा भगवत्स्वरूप है उसी प्रकार सबका है। तुममें यदि कोई विशेषता दीख पड़ती है तो वह चित्तकी निर्मलताको लेकर है। वह निर्मलता तो भगवान्‌की दयासे भगवान्‌की प्रसादी है। भगवान्‌की दी

हुई है। दूसरे लोग मान दें तो उससे फूल मत जाओ। जिसके लिये वे मान देते हैं वह बुद्धिकी शक्ति, शरीरकी शक्ति या लक्ष्मी अथवा वैभव—चाहे जो कुछ हो सब भगवान्‌के दिये हुए हैं। भगवान्‌के ही हैं। इसलिये उनको अपना समझकर हर्षाओ मत और फूलो मत। तुम और तुम्हारा सब कुछ भगवान्‌का है, यह बात न भूलो और तुम्हें भगवान्‌को प्राप्त करना है, इसलिये उनके मार्गको न भूलो। बीचमें रह जानेके लिये अनेकों प्रलोभन और दयाके पात्र मिलेंगे; परंतु वे सब भरमानेवाले हैं, इसलिये स्थिर चित्तसे भगवान्‌की ओर बढ़े जाओ। रुको मत। प्रमाद मत करो, गर्व मत करो और भगवान्‌को न भूलो।

८३—आशीर्वादके द्वारा यदि कोई धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, राज्य, लक्ष्मी, पुत्र, स्त्री या जगत्‌की किसी दूसरी वस्तुको प्रदान करनेको कहता हो तो उसको तुम बड़ा न मानो। ये सारी वस्तुएँ जगत्‌की माया हैं। यदि कोई स्थलके समान ही जलके ऊपर चल सके तो उसे तुम बड़ा न मानो। जो आकाशमें मनकी गतिसे उड़ सके तो उसको बड़ा न मानो। जो जमीनमें दीर्घकालतक गड़ा रह सके, उसको बड़ा न मानो। जो विष खा ले और मरे नहीं, उसको बड़ा न मानो। जो आगमें चले और जले नहीं, उसको बड़ा न मानो। जिसे काट डालो और वह जीवित हो जाय, उसे बड़ा न मानो। जो बहुत खा सके या जो बहुत दिनोंतक अनशन कर सके, उसको तुम बड़ा न मानो। जो मुर्देको जिला दे, जीवितको मुर्दा बना दे, जो यह तथा इससे अधिक चमत्कार करे, उसे तुम बड़ा न मानो। कुंकुम निकाले, पैसा निकाले, वर्षा बरसावे, अकाल डाले और इसी प्रकारके अनेक पाखण्ड कर सके, यदि ऐसा आदमी हो तो उसे बड़ा न मानो। ये सारे तन्त्र-मन्त्र, ओषधि, उपासना, योग और क्रियाके द्वारा साध्य हैं। मायाके विलास हैं और इन सबका प्रदर्शन करनेवाला वासनाका दास कोई पामर होता है। कोई धनके, कोई यशके, कोई भोगके तो कोई बड़प्पनके तथा कोई दूसरी किसी इच्छाके दास होते हैं। बड़ा तो वह है कि जिसने आशा और इच्छामात्रका त्याग कर दिया है, जिसने मन और

इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, जिसने जगत्से मनको मोड़कर उसको नित्य भगवान्में जोड़ दिया है, जिसने काम और क्रोधका त्याग कर दिया है, जिसका मन सदा शान्त और प्रसन्न रहता है, जिसका मन प्राणिमात्रके प्रति प्रेमवाला होता है, जो प्राणिमात्रको भगवत्स्वरूप जानकर उस हिसाबसे बर्तता है, जो तमाम सचराचरको भगवान्में और भगवान्को सचराचरमें देखता है। जिसने अपने आत्माको भगवान्के रूपमें पहचाना है, जिसका कोई वैरी नहीं है, जो प्राणिमात्रका हितैषी मित्र है और जिसका मन सदा भगवान्में रमता है। अतएव मायामें, सिद्धिमें, चमत्कारमें न फँसो। भगवान्में मनको पिरो दो, भगवान्में लीन हो जाओ।

८४—संसारके प्राणी या पदार्थोंका सेवन करनेसे जीवको आनन्द नहीं होता। जिस प्रकार काठका बनावटी पक्का आम दूरसे सच्चे पक्के आमके जैसा दिखलायी देता है। परंतु अनुभव करनेपर वह मिथ्या सिद्ध होता है; क्योंकि वह खानेमें नहीं आता, उसमें रस नहीं होता, उसी प्रकार जगत्के प्राणी या पदार्थोंका सेवन करनेपर उससे जीवको आनन्द नहीं होता! जो नाशवान् है, विकारी है और जिसके सेवनसे जीवको आनन्द नहीं होता वह मिथ्या है। जीवको विषय-भोगसे आरम्भमें हर्ष होता है पर परिणाममें चिन्ता, ग्लानि, श्रम और दुःख ही होता है, इसी प्रकार तमाम जगत्के प्राणी और पदार्थके सेवनसे होता है, इसलिये वह त्याज्य है। आनन्द है परमात्मामें; जीवको भूख है आनन्दकी। वह जगत्में भटकता है आनन्दके लिये, परंतु उसे मिलता है आनन्दके बदले दुःख। परमात्माकी शरण लिये बिना, परमात्मामें मनको लीन किये बिना, जीवकी आनन्दकी भूख कोटि-कोटि उपायोंसे भी मिटनेवाली नहीं है।

८५—तुम अपना इष्टदेव निश्चित कर लो। परमात्मा तो एक है; व्यापक है; परंतु उसके सगुण-स्वरूप भक्तकी रुचिके अनुसार अनेक हैं। जिसको जिसमें—जिस सगुण-स्वरूपमें विशेष प्रेम हो उसको उसीके नामका जप करना चाहिये और उसीकी मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। जप नित्य-नियमितरूपसे करे। जपको बार-बार बदले नहीं। जिस एक

जपको निश्चित कर ले, उसीको प्रतिदिन जपे। यदि किसी समय दूसरे नाम भी जपे जायँ तो कोई हानि नहीं। जैसे कि तुमने श्रीकृष्णको अपना इष्टदेव निश्चित कर लिया और '**श्रीकृष्णः शरणं मम**'—इस मन्त्रको निश्चित कर लिया; तब इसके जपकी माला तुम्हें रोज फेरनी चाहिये और श्रीकृष्णकी पूजा-अर्चना और ध्यान आदि करते हुए भी शंकर, गणेश, देवी, हनुमान्, सूर्य या दूसरे जो भी कोई देवी-देवता हों उनके नाम भी प्रसंग आनेपर प्रेमसे लेने चाहिये और उन सभी देवी-देवताओंको प्रेमसे प्रणाम करना चाहिये। जो परमात्मा श्रीकृष्णके रूपमें हैं वही शंकर, गणेश आदिमें भी व्यापक हैं। मूर्ति तो आधार है, शेष, पूज्य, और प्राप्त करनेकी वस्तु तो मूर्तिमें व्यापक भगवान् है। साधक जैसे-जैसे निष्कामभावसे जप करता है, जैसे-जैसे मूर्तिका पूजन, ध्यान आदि निष्कामभावसे करता है, वैसे-वैसे उसके राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि धीरे-धीरे अपने-आप मिट जाते हैं। साधक तो लगा रहे। पहले तो जप-ध्यानसे पूर्वके पाप नाशको प्राप्त होते हैं। पश्चात् उस जप-ध्यानके प्रभावसे राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि मल नाश हो जाते हैं; इसलिये भाई! लगे रहो, श्रद्धापूर्वक लगे रहो। भलीभाँति नित्य नियमित जप करो। गृहस्थाश्रमी प्रतिदिन छः घण्टा जप करे तो अच्छा जप करनेवाला कहलायेगा और जिसको आजीविकाकी चिन्ता नहीं, वैसे साधु-संन्यासी आदि प्रतिदिन बारह घण्टा जप-ध्यान करें तो वह अच्छा जप कहला सकता है। जिस किसीको अपने जपकी बात कहनेसे सुननेवाला उस जपके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करता है और मनको जपसे डिगाता है। जप भगवान्‌के किसी भी नामका हो उससे तुम्हारा कल्याण होगा ही, यह निश्चय मानो। श्रद्धा और भाव फल प्रदान करेंगे। इसलिये कमर कसकर लग जाओ। किये बिना मिलता नहीं। खाये बिना भूख मिटती नहीं। चले बिना गाँव आता नहीं। उसी प्रकार भजन किये बिना भगवान् नहीं मिलते।

८६—संगसे प्रीति होती है। संगमें रहे और उसके प्रति राग न हो यह सम्भव नहीं। मायिक पदार्थका संग करोगे तो उसमें राग होगा और उससे

दु:ख होगा। अतएव तुम गृहस्थाश्रमी हो या साधु पर जगत्के प्राणी और पदार्थोंका, मायिक लोगोंका संग न करो अथवा उतना ही करो जितना आवश्यक हो। संग तुम्हारे मनको उसके प्रति आकर्षण करके विह्वल बनाता है। तुम समझते हो कि माया क्या करेगी? मायाके बीचमें रहकर यह कहना कि 'मैं मायाको जीत लूँगा' तुम्हारी भूल है—मिथ्या बकवाद है। तुम्हें एक दृष्टान्त बताता हूँ। एक स्त्री है। थोड़ी देरतक तुम उसके अंग-प्रत्यंगको देखो। थोड़े ही समयमें राग उत्पन्न हो जायगा और धीरे-धीरे तुम्हारा मन उसकी कामना करने लगेगा। ऐसी ही सबकी बात है; इसलिये जगत्में सुखकी कामना रखनेवालोंको जहाँतक बने, एकान्त-सेवन करना चाहिये। कभी प्रसंग आ जाय तो उसके लिये जितना आवश्यक हो, बस उतना-सा ही जगत्का संग करे। जिस प्रकार किसी गन्दी जगहपर जाते समय हम नाकपर कपड़ा डालकर जल्दीसे वहाँसे निकल जाते हैं, जैसे किसी काजल या कच्चे रंगकी कोठरीमें जानेपर दाग न लग जाय, इसका ध्यान रखकर सावधानीसे कपड़ेकी ओर नजर रखकर चलते हैं, उसी प्रकार जगत्के मायिक प्राणी और पदार्थोंके संगमें ईश्वरकी ओर दृष्टि रखकर, ईश्वरकी शरण लेकर उनका जितना संग आवश्यक हो, बस उतना ही बहुत सावधानीसे करना चाहिये। नहीं तो समझ लो कि अध:पात हो गया।

तुम परस्त्रीके संग गाते हो, नाचते हो, कूदते हो, एकान्तमें बातें करते हो, सोते-बैठते हो—अरे मूर्ख! यह तुम्हारे कल्याणके विनाशका मार्ग है। तुम समझते हो कि इससे तुम्हारा क्या होता है? अरे मूर्ख! तुम्हारी अपेक्षा अनेकों गुना अधिक शक्तिवाले मायाके मोहसे मार्गभ्रष्ट होकर धूलमें मिल गये। फिर तुम्हारी क्या गिनती? मायिक पदार्थोंमें एक विशेषता यह है कि जैसे ही प्रेमसे तुमने उनकी ओर देखा या सुना कि तुम फँसे और फँसनेपर धीरे-धीरे ऐसे गहरे गड्ढेमें गिरोगे कि जहाँसे निकलना बहुत ही कठिन होगा। माया और मायाके पदार्थ दोनोंहीसे डरकर चलो। उनसे बचनेके लिये ईश्वरकी शरण लो। तुममें, तुम्हारी

बुद्धिमें कोई विशेष शक्ति नहीं कि जो तुम्हें मायासे बचा दे। यदि तुममें शक्ति है तो वह भगवान्‌की दी हुई है। भगवान्‌की शक्तिसे तुम मायासे अलग रहकर भगवान्‌को पा सकोगे। इसलिये सर्वभावसे भगवान्‌की शरण लो, अपनी शक्तिके मिथ्या अपमानको तुम छोड़ दो। अपने मनको भगवान्‌में लगाओ। अपनी बुद्धि भगवान्‌को सौंप दो। भगवान् दीनदयालु हैं, वे तुम्हारा उद्धार करेंगे।

८७—शरीरकी सारी क्रियाओंका कर्ता तो मन ही है न? इस चित्तमें जैसे संस्कार और जैसी प्राणशक्ति होती है, उसी हिसाबसे क्रिया होती है। बराबर विचारकर देखो! ये संस्कार दो प्रकारके होते हैं—एक 'द्रव्य-संस्कार' और दूसरा 'भाव-संस्कार'। खान-पानके द्वारा जो संस्कार उत्पन्न होकर चित्तको प्रभावित करते हैं वह 'द्रव्य-संस्कार' है और इन्द्रियोंके तथा मनके अनुभवद्वारा चित्तमें जो संस्कार-भावना जाग्रत् होती है वह 'भाव-संस्कार' है। मनुष्य चाहे कितना ही शान्त या चतुर हो पर उसको कड़ी भाँग या शराब पिला दिया जाय तो उसके द्रव्य-संस्कारका मनपर असर होते ही वह मनुष्य चाहे जैसे बकने लगेगा और विपरीत आचरण करने लगेगा। उसी प्रकार यदि कोई बुरे संस्कारवाला, मन्द आचरणवाला, व्यसनी और दुर्गुणसे भरा मनुष्य हो और उसके सहवासमें अच्छा आदमी बहुधा आवे तो उस दुर्गुणीके सहवाससे अच्छे आदमीके चित्तपर बुरा असर पड़ेगा और उसका जीवन बदल जायगा। मतलब यह है कि खान-पान आदिसे और संगसे मनुष्यके मनके ऊपर विशेष असर पड़ता है और इस असरसे पूरा मनुष्य बदल जाता है। अतएव मुमुक्षुको चाहिये कि खान-पानके पदार्थोंपर विशेष ध्यान रखे। ऐसे पदार्थ खाने-पीने चाहिये कि जिससे चित्त सदा शान्त स्थितिमें अपनी जगहपर रहकर सारा काम करे। आत्मारूपी कल्पवृक्षकी छायामें रहकर चित्त काम करता है तो उसकी अवस्था शान्त और समाहित होती है और उसमें वह सदा सुख और आनन्दका अनुभव करता है। खान-पानकी वस्तुओंके ऊपरी गुण-दोषके उपरान्त उन वस्तुओंका धर्मसे या

अधर्मसे, प्रेमसे या तिरस्कारसे किसी प्रकार उपभोग किया जाता है, उसका भी संस्कार चित्तपर प्रभाव डालता है। इसलिये भाई! पहले तो तुम्हारे खान-पानके पदार्थ सात्त्विक और चित्तको शान्त रखनेवाले होने चाहिये और फिर वे धर्मसे प्राप्त और शान्त तथा प्रेमी हृदयवालेके द्वारा तैयार किये हुए होने चाहिये। साथ ही शान्त-अवस्थामें भोजन किया जाना चाहिये। इससे तुम्हारा चित्त शान्त रहेगा। कहा जाता है कि जीवको सारे जीवनमें चित्तकी शान्ति ही एक ऐसी वस्तु है, जिसे प्राप्त करना है। दूसरी रही परायेके सहवाससे पड़े हुए चित्तपर बुरे संस्कार। इसके लिये बहुत ही सावधान रहना चाहिये।

किसी सम्प्रदायमें दूसरेके—परायेके स्पर्शसे स्नान करना पड़ता है। वह सम्प्रदायवाला देहके स्पर्शको स्पर्श मानता है और देहको स्नान कराता है। यह बहुत ही साधारण बात है। विशेष आवश्यक यह है कि नित्य अपने समाहित चित्तको अछूता रखना चाहिये। दूसरेकी मलिनता उसका स्पर्श न करने पाये। अपना चित्त सदा शान्त, निर्मल और समाहित रहे। संसारमें रहते हुए, व्यवहार करते हुए, बहुतोंके संसर्गमें आते हुए अपना चित्त दूसरोंके विजातीय संस्कारोंसे अपवित्र तो नहीं हो रहा है, इसका ध्यान रखे। दूसरोंकी अपवित्रतासे उसमें रजोगुण, तमोगुणके संस्कार प्रवेश करते हैं। अपने चित्तको आत्माकी छायासे बाहर खींचकर अनेक विपत्तियोंमें डालना है। इसलिये विजातीय खान-पानसे तथा विजातीय संस्कारवाले जीवोंसे अपना चित्त अपवित्र न हो, इसपर विशेष ध्यान रखो और अपवित्र हो तो स्नान कर लो। इस स्नानमें चित्तको स्नान कराना होता है। भगवान्के नामका एकाग्रचित्तसे कम-से-कम तीन घंटेतक जप, प्रार्थना और निर्विचार-अवस्थामें बैठकर चित्तको भगवान्में लगाना, यही चित्तका स्नान है। सारांश यह है कि चित्तको भगवान्रूपी निर्मल सरोवरमें डुबकियाँ लगाना, उसमें डुबो देना ही चित्तका स्नान है। चित्तकी सहज अवस्था निर्मल अवस्था है। इसमें खान-पानके संसर्गसे संस्कार पड़ता है और

उससे वह मलिन होता है। यह मलिनता भगवत्-सरोवरमें स्नान करनेसे मिटती है।

इस अभ्यासके करनेवालेको चाहिये कि वह नित्य चित्तपर दृष्टि रखे। यह 'अस्पर्श्य योग' कहलाता है। चित्तके ऊपर परमात्माका ही संस्कार पड़े दूसरा कोई मलिन संस्कार न पड़े, इसका ध्यान रखना पड़ता है। जगत्में जो तुम्हारे सम्पर्कमें आवेगा, वह अपने संस्कार तुम्हारे चित्तपर डालनेका सहज प्रयत्न करेगा। इसमें जिसके संस्कार बलवान् होंगे, वह दूसरेपर असर डालेगा। इस प्रकार एक चित्तका दूसरे चित्तको अपने संस्कारके अनुसार बनानेका काम हमारे अनजाने जगत्में सतत चला करता है। इसे 'चित्त-युद्ध' कहते हैं। हारा हुआ चित्त दूसरे जीते हुए चित्तकी अधीनता स्वीकार करके उसके संस्कारको ग्रहण करता है। इस प्रकार जगद्रूपी सागरमें अनेक चित्तोंका युद्ध चला ही करता है। अनेकों चित्त कामना और जन्म-मरण आदिके भँवरमें गोता खाया करते हैं। जो चित्त दुर्गका आश्रय लिये बिना, दृढ़ स्थिर आश्रयके बिना युद्ध करता है, वह शीघ्र ही हार जाता है और इधर-उधर दौड़-भाग किया करता है; परंतु जिसके चित्तको स्थायी आश्रय, आधार होता है, वह जमकर खड़ा रहता है। इस जगत्में स्थिर स्थायी तो एक भगवान् हैं, उनके सिवा सब कुछ अस्थिर है। अतएव चित्तको भगवान्के आश्रयमें रखकर जगत्के अनेकों चित्तके मलिन संस्कार न पड़ने दे और उसे सदा भगवान्में डुबाये रखे। भगवत्-रूपी जलसे उसे नित्य स्नान कराता रहेगा तो चित्त निर्मल रहेगा।

भगवान्में चित्तको जोड़नेका नाम 'योग' है। भगवान्में चित्तको रोककर रखना 'भक्ति' है। कोटि-कोटि जन्मके प्रयाससे यही साधना करनी है कि जिससे चित्त संसारकी कामना छोड़कर भगवान्में लीन हो जाय। भगवान्में जब चित्त सदाके लिये लीन हो जाता है, तब उसका नाम मुक्ति है। चित्तको दूसरोंके चित्तके मलिन संसर्गमें रखनेसे वैसी ही कामना जाग्रत् होती है। जिस चित्तमें जगत्के सुखकी इच्छा

हो उसे मलिन जानना चाहिये और जिस चित्तमें भगवान्‌के लिये तड़प हो, उसे निर्मल जानना चाहिये। ऐसा समझकर ही मलिन चित्तवालेसे संसर्ग करे और जितना संसर्ग हो, उसी हिसाबसे चित्तको भगवत्-सरोवरमें स्नान कराकर शुद्ध कर ले, यही सच्ची शुचिता है। इसे, 'अस्पर्श्य योग' कहते हैं। मनमें राग-द्वेष स्फुरित हो और कामनाएँ जागें तो तुरन्त भगवन्नामके जप, ध्यान आदिके द्वारा भगवत्-जलमें मनको स्नान कराकर शुद्ध कर ले। चित्तको निर्विचार रखना भी चित्त-स्नान है। इस प्रकार निर्विचार न रहे तो मुखसे भगवान्‌के नामका जप करे और चित्तमें अन्य कोई विचार न आने देकर भगवान्‌का ध्यान करे, इसे भी चित्त-स्नान कहते हैं। जिस प्रकार प्रतिदिन दातुन करना, शौच जाना, स्नान करना और खाना आदि आवश्यक है, उसी प्रकार प्रतिदिन चित्त-स्नान भी आवश्यक है। बहुत सावधान रहनेपर भी चित्तमें मलिनता आ ही जाती है। अतएव प्रतिदिन भगवान्‌का नाम-जप करते हुए संकल्परहित होकर चित्त-स्नान करना चाहिये।

८८—शरीर (स्थूल) तो जड है, विकारी है, नाशवान् है और आत्मा चेतनस्वरूप, सदा निर्विकार, नित्य और अविनाशी है; फिर यह संसारका गड़बड़झाला किसको लेकर है?—चित्तको लेकर। चींटीसे लेकर ब्रह्मातक सब शरीरोंके चित्त त्रिगुणमय होते हैं। उनमें किसीमें सत्त्वगुण अधिक, किसीमें रजोगुण अधिक और किसीमें तमोगुण अधिक होता है, पर ऐसा कोई चित्त नहीं जिसमें गुण न हो। इन तीन गुणोंवाले जीवोंके कल्याणके लिये तीन श्रेयके मार्ग शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं—कर्ममार्ग, उपासना (भक्ति) मार्ग और ज्ञानमार्ग। जिस प्रकार चित्तमें तीन गुणोंमें एक मुख्य होता है और दो गौण होते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक साधकको अपने कल्याणके लिये कर्म, भक्ति और ज्ञानमेंसे एकको मुख्य और दूसरे दोनोंको गौणरूपसे निश्चय करना चाहिये। इन तीनों मार्गोंसे सांसारिक सुख या किसी प्रकारकी कामनाकी प्राप्ति चाहनेवाला मनुष्य संसारके चक्रसे छूट नहीं सकता, परंतु निष्कामभावसे केवल भगवत्-प्राप्तिके

लिये इन तीनों मार्गोंका सेवन करनेवाला साधक प्रभुको प्राप्त करता है। क्रियाका स्वरूप वही रहता है, परंतु जिस आशयसे क्रिया होती है उसी हिसाबसे फल मिलता है। जो चित्त कर्म, उपासना और ज्ञानका सेवन करके जगत्‌के सुखकी इच्छा करता है, उसे उसकी प्राप्ति होती है और जो भगवान्‌की इच्छा करता है, मोक्षकी इच्छा करता है, उसे वह मिलता है। जैसी इच्छा वैसा फल। तब यह प्रश्न होता है कि समान परिश्रमके होते हुए भी फलमें इतना अन्तर है तो सब लोग मोक्षकी या भगवान्‌की इच्छा क्यों नहीं करते? इसका कारण यह है कि जीवको इन्द्रियजनित सुख प्रत्यक्ष है, अतएव वह उसकी सहज ही इच्छा करता है। भोग-सुख प्रत्यक्ष है, परंतु वह परिणाममें दुःखरूप है, यह बात जैसे-जैसे विचारद्वारा मनुष्यके समझमें आती है वैसे-ही-वैसे उसके प्रति उसे अरुचि हो जाती है। जबतक इन्द्रियोंके भोगोंमें रुचि है और रस मिलता है, तबतक मनकी इच्छाएँ दूर नहीं होतीं। भोगकी इच्छासे ही चित्त एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करता है, अनेकों कर्मोंको करता है और उनसे दुःख, क्लेश और चिन्ता आदि भोगता है। अपने व्यक्तिगत अनुभव, विचार और सत्संगके बिना चित्त भोगकी इच्छाओंको नहीं छोड़ता। भगवान्‌की शरण लेनेसे, भगवान्‌की भक्ति करनेसे, संतजनोंके सहवाससे और विचारसे भोगनेकी इच्छा धीरे-धीरे शान्त होती है। इसलिये भाई! शान्तिसे, धीरजसे लगे रहो। चित्तमेंसे इच्छामात्रका नाश हुए बिना जन्म-मरणके चक्करसे जीव नहीं छूट सकता।

८९—चित्त जिसकी लालसा करता है उसे पाता है। जगत्‌में दो हैं—एक भोग-पदार्थ और दूसरे भगवान्। चित्त भोगका चिन्तन करता है तो भोग मिलता है। भगवान्‌का चिन्तन करता है तो भगवान् मिलते हैं। चित्त भोगका या भगवान्‌का चिन्तन क्यों करता है? इसका उत्तर यह है कि शाश्वत सुखके लिये, अखण्ड आनन्दके लिये। जो सुख या आनन्द अखण्ड नहीं है, बल्कि परिणाममें श्रम, क्लेश, भय, चिन्ता और दुःख प्रदान करता है, उसको उसी प्रकार ठीक-ठीक जान लेनेपर

चित्त उसकी इच्छा नहीं करता। जगत्के अनेकों संस्कार चित्तको भुलावेमें डालते हैं, उनसे कभी चित्तमें भोगकी इच्छा जाग्रत् होती है और फिर भोगके प्रति इच्छाका अभाव होकर भगवान्की इच्छा जाग उठती है। इस प्रकार चित्तका गड़बड़घोटाला चला ही करता है। चित्तका यह भ्रम चिरकालसे है, इसलिये यह सहज ही दूर नहीं होता।

चित्त एक बार सोचता है कि भोगकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, भोगका चिन्तन भी नहीं करना चाहिये, केवल भगवान्की ही चाह करनी चाहिये। इस प्रयत्नमें उसकी परीक्षाएँ होती हैं। उसके सामने अनेकों भोग आकर खड़े हो जाते हैं। उसकी इन्द्रियाँ उनको भोगनेके लिये उसे ललचाती हैं। इस अवस्थामें यदि उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई होती है तो दीर्घकालसे हठपूर्वक भोगमें रुचि हटाकर भगवान्में रुचि रखनेवाला मन भगवान्को छोड़कर भोगमें फँस जाता है और एक बार भोगमें पड़ा हुआ मन सहज ही नहीं निकलता। तपस्वी विश्वामित्र तथा दूसरे अनेकों तपस्वी, जिन्होंने भोगमात्रका त्याग कर दिया था, सहज ही भोगमें फँस गये। हठपूर्वक भोगसे हटाया हुआ मन भोगके लिये प्रबल आकर्षण होनेपर तुरंत ही उसमें फँस जाता है। अतएव भोगका त्याग करनेके लिये भगवान्की शरण लेनी चाहिये। भगवान्की प्राप्ति करनेके लिये और भोगकी इच्छाका त्याग करनेके लिये जो भगवान्की शरण लेते हैं, उनकी रक्षा भगवान् स्वयं करते हैं। इसी कारण भगवान्का भक्त भोगका सहज ही त्याग करके आसानीसे भगवान्को पा लेता है; क्योंकि भक्तका चित्त भोगका त्याग करनेके लिये अपने बलका भरोसा नहीं करता। बल्कि उन भगवान्का बल ही उसका आधार होता है कि जिनका बल अपार है और जो भगवान्की शरण न लेनेवाले हठयोगी, विचारशील तथा अन्यान्य साधक चित्तकी भोगेच्छाको छुड़ानेकी चेष्टा करते हैं, वे अपने ही अल्प बलका भरोसा करते हैं और इसी कारण उनकी चेष्टा निष्फल हो जानेकी अधिक सम्भावना होती है। इसलिये मोक्षकी कामना करनेवालोंको चाहिये कि भगवान् जो सर्वत्र व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबके

आधार, दयालु और भक्तवत्सल हैं, उनकी शरण लेकर उनकी ही प्रार्थना करके, उन्हींकी दयाके द्वारा मुक्ति पानेके लिये प्रयत्न करें।

९०—शरीरमें चित्त है। जिसके द्वारा ही जीव सुख-दुःखका अनुभव करता है, चित्त ही इच्छाएँ करता है। क्लेश, भय, चिन्ता, क्रोध, लोभ, द्वेष सबका करनेवाला चित्त ही है। इन सभी चित्तके भावोंका समावेश दोमें होता है—कामना और घबराहट। कामना और घबराहटसे चित्त अपनी जगहको छोड़कर इधर-उधर भटकता है। चित्तका आश्रय आत्मा है। आत्मा नित्य, अविकारी, अविनाशी, अनादि और आनन्दस्वरूप है। यदि चित्त शुद्ध आत्माके आश्रयमें रहे तो उसको शान्त, सुखस्वरूप और आनन्दस्वरूपका अनुभव हो, परंतु उसमें कामना और घबराहट जाग्रत् होती है। इससे वह आत्माके आश्रयको छोड़कर जगत्की ओर दौड़-धूप करता है और इसीसे अपार दुःखका अनुभव करता है। जबतक आत्माके आश्रयमें रहता है, तबतक अखण्ड सुख रहता है और उसको त्याग करनेसे अपार दुःख होता है। इसलिये यह विचारना चाहिये कि ऐसा होते हुए भी कारण क्या है जो चित्त आत्माका आश्रय त्यागकर जगत्की ओर भटकता है। चित्तमें किसकी कामना जाग्रत् होती है? किससे जाग्रत् होती है? इस चित्तमें संस्कार भरे हैं और वे संस्कार संगसे प्रविष्ट हुए हैं। चित्तको कामना तो सुखकी ही है, परंतु वह सुख किससे, किस प्रकार मिलेगा, इसका निर्णय उसमें दूसरोंको देखने, सुनने, जानने और अनुभव करनेसे प्रविष्ट संस्कार करते हैं। स्त्रीसे सुख मिलेगा, धनसे सुख मिलेगा, विद्यासे सुख मिलेगा, भोगसे सुख मिलेगा, यशसे सुख मिलेगा, राज्यसे सुख मिलेगा, ऐश्वर्यसे सुख मिलेगा, स्वर्गसे सुख मिलेगा, लोक-परलोक या उनके आधिपत्यसे सुख मिलेगा, ऐसे अनेकों संस्कार चित्तमें संगके द्वारा घुसे हुए हैं। वे संस्कार चित्तको आत्मासे विमुख करके उन-उन इच्छाओंके लिये प्रयत्न करनेकी प्रेरणा करते हैं और इच्छा पूरी करनेके लिये आत्मासे दूर होकर चित्तने जैसे ही इच्छा पूरी की कि तुरंत वह आत्माके आश्रयमें आकर खड़ा हो जाता है; क्योंकि सुख तो

आत्मामें ही है। इसी कारण आत्माके आश्रयमें आते ही उसे सुखका अनुभव होता है। इस प्रकार आत्माके आश्रयसे इच्छित वस्तु मिलनेसे उसे सुखका अनुभव हुआ। यह सुख मिला आत्मासे ही पर इससे चित्तने जाना कि अमुक वस्तुसे मुझे सुख मिला है। यह बिलकुल भूल है। जिस प्रकार राजाके द्वारा किसी कामके लिये भेजा हुआ नौकर काम पूरा करके राजाके पास आकर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार चित्त किसी वांछितसे सुख प्राप्त करनेके लिये वांछितको प्राप्त करके आत्माके पास हाजिर हो जाता है।

आत्मासे दूर गया चित्त जबतक आत्मासे विमुख रहता है तबतक श्रम, क्लेश, दुःख, चिन्ता, भय तथा ऐसे अनेकों प्रकारके कहे जानेवाले दुःखोंका अनुभव करता है। जिस प्रकार कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते समय अपने ही दाँतोंसे निकले हुए रक्तको हड्डीमेंसे निकला हुआ मानकर सुखी होता है, उसी प्रकार जगत्के भोग्य पदार्थोंको प्राप्तकर शान्त होनेसे आत्मामें अनुभव होनेवाले सुखको चित्त ऐसा मान लेता है कि यह सुख भोगसे मिला है। अमुक भोगसे सुख मिलेगा, इस प्रकार पूर्वसे ही कल्पना करके जो उसके लिये यत्न करता है, उसीको उस भोगसे सुखका अनुभव होता है, दूसरेको नहीं। कामनासे चित्त आत्मासे विमुख हो जाता है। ज्ञानीका यह लक्षण है कि सुखके लिये उसका चित्त आत्माको छोड़कर दूसरे किसीका आश्रय नहीं लेता। सुखके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता। जिसे अखण्ड आनन्द कहते हैं, वह तो आत्मामें ही है। अतएव उसके लिये वह किसी औरका आश्रय नहीं लेता। इसीलिये अखण्ड आनन्दकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि सुखके लिये कामनामात्रका त्याग कर दे। जो कामनाओंका कभी सेवन नहीं करता, वह नित्य आनन्दित रह सकता है। घबराहट भी चित्तको आत्मासे विमुख करती है अथवा कह सकते हैं कि आत्मासे विमुख चित्त घबराता है और दुःखी होता है। अतएव कभी घबराना नहीं चाहिये, परंतु घबराहट किससे होती है? कामनाके भंग होनेसे। चित्तने यह कामना कर रखी है कि जगत्के प्राणी और पदार्थोंसे सुख होगा और इस कामनाकी पूर्तिमें जब विघ्न पड़ता है, तब उसे

घबराहट होती है। अतएव उचित तो यह है कि मनकी समस्त कामनाओंका त्याग करे। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'तो क्या कुछ भी न करे, बिना कुछ किये कैसे बैठा रहा जा सकता है?' उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। अपने शरीरकी प्रकृतिके अनुसार सारे काम—अर्थात् जो कर्तव्य-कर्म हों, वे सब करने चाहिये; परंतु सुखकी आशासे नहीं। यह तो निश्चय कर ही लेना चाहिये कि सुख जगत्के किसी भी पदार्थमें नहीं है। वह तो केवल आत्मामें ही है। वह आत्मा मुझसे अभिन्न है और उसका अनुभव शान्त चित्तसे होता है। तब चित्तको कामना छोड़कर और बिना घबराहटके सुखके लिये नहीं बल्कि कर्तव्यके लिये जो करना हो, उसे करना चाहिये। शर्त एक ही है कि जो कुछ करो बिना घबराये करो। जो कुछ करो बिना सुखकी कामनाके करो। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'मोक्षके लिये यत्न किया जाय या नहीं?' भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न किया जाय या नहीं?' इसका उत्तर यह है कि मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न करना तो मानव-जीवनका प्रधान कर्तव्य ही है; परंतु यह समझना चाहिये कि सबका आत्मा ही तो भगवान् है और वह नित्यप्राप्त है। अपना सच्चा स्वरूप है। प्रयत्न इतना ही करना कि मन शान्त रहे। चित्त समाहित रहे। क्रिया चाहे जो करे; परंतु शान्त चित्तसे करे, इसका नाम योग है। इस योगके अभ्यासीका लक्ष्य सदा चित्तकी ओर रहता है। जिसका चित्त सदा शान्त है वह सदा सुखी है। कोई पूछ सकता है कि 'क्या वह भोग भोगता है—खाता-पीता है?' हाँ, वह सब कुछ करता है पर शान्त चित्तसे। अधीर होकर नहीं, लोलुपता या आसक्तिसे नहीं। सुख प्राप्त करनेकी बुद्धिसे नहीं। भोगमें सुख नहीं है पर सुखका अनुभव तो आत्मामें शान्त समाहित चित्तसे होता है। ऐसा पक्का निश्चय होना चाहिये। कैसा भी प्रसंग आये और कुछ भी किया जाय, शर्त एक ही है कि शान्त चित्तसे किया जाय। आत्माकी छायामें रहकर किया जाय। विकारहीन चित्तके द्वारा किया जाय। मुँहपर विकार न आने पावे इस प्रकार किया जाय। अनेक जन्मोंके द्वारा प्राप्त की जानेवाली वस्तु यही है।

९१—चित्तको भगवान्‌में जोड़नेका नाम योग है। यहाँ जो कुछ है सब परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। परमात्मा सर्वत्र अव्यक्तरूपमें व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अविनाशी, अनादि आदि गुणोंवाले हैं, उनको भजकर मैं उन्हें प्राप्त करूँगा। वे मेरे सर्वस्व हैं, मुझे वे तारेंगे—इस भावनासे चित्तको भगवद्भक्तिसे भगवान्‌में जोड़नेका नाम योग है। चित्त जिसके लिये उत्सुक होता है उसे पाता है। इस प्रकार चित्त भगवान्‌के लिये उत्सुक होकर भगवान्‌में लीन हो जाता है और आत्मा तो परमात्मस्वरूप यानी भगवत्स्वरूप है ही, इसीलिये कह सकते हैं कि चित्त आत्मामें लीन हो जाता है। इस मार्गके साधकका जब चित्त व्याकुल होता है या उसे कोई इच्छा होती है, तब उसके लिये वह अपने उपास्य भगवान्‌की शरण लेता है और परमात्मा तो कल्पतरु है। उसका आश्रय लेकर जो इच्छा करता है वह पाता है। अतएव इस प्रकार भक्तियोगवाला अस्त-व्यस्त होकर काम करता हुआ भी आखिर भगवान्‌को प्राप्त करता है। दूसरा सांख्यका मार्ग है। भक्तियोगमें भाव और श्रद्धा प्रधान होती है तो सांख्यमें विचार और वैराग्यकी प्रधानता है। जिसमें भाव और श्रद्धाकी अधिकता हो, उसे भक्तिमार्ग ग्रहण करना चाहिये। जिसका वैराग्य अभी कच्चा है और भोगसे रस मिलता हो, उसके लिये भक्तिमार्ग उचित है। भक्तिमार्गका फल विचार और वैराग्य है, इसलिये सांख्यमार्गवालेको भी जब वह बीचमें कहीं आ पड़े तो भक्तिका सेवन करते रहना चाहिये। सांख्यमार्गवालेको जान पड़ता है कि यह शरीर मैं नहीं हूँ। यदि मैं शरीर होता तो उसके मुर्दा होनेपर भी इसे व्यक्तित्व मिलता, परंतु तब तो सभी कहते हैं कि मुर्देको जला डालो, इसमें रहनेवाला चला गया। अतएव यह स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ। उसी प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धि भी मैं नहीं हूँ। भूले हुए मनको मैं उलाहना देता हूँ, बुद्धिको मैं जानता हूँ। मैं जिसको जानता हूँ वह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार चित्तको विचार करते हुए और शास्त्रके अभ्यास तथा सत्संगसे 'मैं कौन हूँ' इसका सूक्ष्म-बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ज्ञात

होता है कि मैं आत्मा हूँ, नित्य हूँ, मुक्त हूँ। परमात्मस्वरूप, शुद्ध चेतनस्वरूप हूँ।

भक्तियोगमें भक्त भगवान्के सिवा दूसरे किसीकी भी इच्छा न करे, इससे उसका चित्त निष्काम बनता है और जो विघ्न या कठिनाई आती है, उसको दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है अथवा भगवान्ने इसमें भी मेरा हित समझा होगा, नहीं तो ये नहीं आते—ऐसा समझकर आनन्दसे उसको सहन करता है। इस प्रकार भक्त कामना और घबराहट दोनोंका त्याग करके चित्तको भगवान्में जोड़ देता है। सांख्यवादी 'मैं आत्मा हूँ, असंग हूँ, चित्त नहीं हूँ, मुझे भोग या मोक्षकी इच्छा नहीं, क्योंकि मैं नित्य-मुक्त हूँ'—इस ज्ञानके बलसे चित्तमें होनेवाली इच्छाओंका शमन करता है। वह चित्तसे कहता है, 'तू मेरे लिये कोई इच्छा न कर। मैं भोक्ता नहीं हूँ। इसी तरह नित्य-मुक्त होनेके कारण मुझे मोक्षकी भी इच्छा नहीं है।' इस प्रकार कामनाका त्याग करता है और घबराहटका त्याग इस प्रकार करता है कि 'देहका दण्ड देहको भोगना चाहिये। चित्तने जो कुछ पहले किया है उसको भोगे बिना छुटकारा नहीं—हँस करके भोगे या रोकर भोगे; भोगना तो पड़ेगा ही। इसलिये शान्तिसे भोगना चाहिये।' इस प्रकार ज्ञानमार्गवाला कामना और घबराहट दोनोंका त्याग करता है। भक्त और ज्ञानी दोनोंके मन्द और मध्यम प्रारब्ध नष्ट हो जाते हैं और तीव्र प्रारब्ध रहता है। उसका भोग दोनोंको ही करना पड़ता है। इस प्रकार दोनोंके चित्त अनेकों प्रयत्न करते हुए अन्तमें परम पदमें लीन हो जाते हैं। चित्तका सदाके लिये परमात्मामें लीन होनेका नाम मुक्ति है और चित्तका भोगके लिये एक शरीरमेंसे दूसरे शरीरमें भटकनेका नाम जन्म-मरणरूपी संसार है। अब तुम्हें जो रुचे वही मार्ग ग्रहण करो।

९२—यह जो सारी अनन्त सृष्टि दिखलायी दे रही है, सो आत्मा, परमात्मारूपी कल्पवृक्षके नीचे रहकर चित्तके संकल्पसे ही तो उत्पन्न हुई है न! अनेकों जीवोंकी कल्पनासे यह सृष्टि खड़ी है। कोई जीव छोटे हैं, कोई बड़े हैं, कोई ब्रह्मा आदि देवता कहलाता है तो कोई असुर कहलाता

है। सब देहधारी हैं। सबके चित्त हैं, एकाग्रचित्तसे जो संकल्प करता है वह प्रत्यक्ष होता है (आत्माकी छायामें रहनेके कारण)। तपके बिना कोई संकल्प नहीं फलता। तप करनेपर जो इच्छा होती है, उसकी पूर्ति होती है। इच्छाके हिसाबसे तप करना पड़ता है। इसीलिये जो इच्छा सहज होती है, वह शीघ्र फलित होती है और कोई कालक्रमसे फलती है। तपका अर्थ है इन्द्रियोंका निग्रह। चित्तको, इन्द्रियोंको जगत्की ओरसे खींचकर परमात्माकी ओर लगानेका नाम 'तप' है और चित्त जभी परमात्मामें लीन हुआ कि संकल्प फलित हुआ। जिस प्रकार बारूदखानेमें आगका स्पर्श होते ही वह भड़क उठता है, उसी प्रकार चित्तमें रहनेवाली इच्छा, चित्तके भगवान्में लगते ही फलित हो उठती है, परंतु भोगकी इच्छा चित्तको सहज ही भगवान्में लगने नहीं देती। इसलिये भोगकी इच्छाकी अपेक्षा मोक्षकी इच्छा शीघ्र फलती है, परंतु चिरकालके संस्कारके कारण भोगकी इच्छाको निकाल डालना कठिन लगता है। तुम दो ही काम करो—चित्तमें कामना न जागे और चित्त घबराये नहीं। इस अभ्यासको कमर कसकर करो। परंतु ऐसा करते समय चित्त कभी बेकार न बैठने पाये, इसलिये उसको या तो भगवान्का नाम जपना सौंपो—बेकार होते ही भगवान्का नाम रटे—या मैं आत्मस्वरूप हूँ, इसका चिन्तन करे।

९३—चित्तमें प्राण और वासना दोनों हैं और वह त्रिगुणात्मक है। निष्काम भक्ति करनेपर ज्ञानके उदयके साथ वासना पतली होकर नष्ट हो जाती है। चित्तमें जो प्राण है, उसमें क्रियाशक्ति भरी है। यह क्रियाशक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकती। अतएव भक्तियोगका साधक हो या ज्ञानमार्गका अभ्यासी हो, दोनोंको ही हाथ-पर-हाथ धरे रहनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। अपने प्राणकी क्रियाशक्तिके अनुसार निष्कामभावसे कर्म करना चाहिये। यह प्राणमें रहनेवाली क्रियाशक्ति भी त्रिगुणात्मिका होती है और सबकी एक-सी नहीं होती। अतएव जिसके प्राणमें जैसी क्रियाशक्ति हो, उसीके अनुसार ही उसे कर्म करना चाहिये, परंतु दूसरोंको देखकर उनके हिसाबसे कर्म नहीं करना चाहिये। गीतामें जो कहा है कि

‘**परधर्मो भयावहः**’ उसका यही अभिप्राय है। सूक्ष्म प्राणकी क्रियाशक्तिके मुख्य गुणोंके आधार चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। उनके कर्म भी गीतामें कहे गये हैं, उसके अनुसार ही कर्म करना उत्तम है। ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भारतवर्षमें ही हों ऐसी बात नहीं है। ये तो सारे जगत्‌में हैं। सृष्टि त्रिगुणात्मिका होनेके कारण, जिसमें सत्त्वगुण प्रधान हो उसे ब्राह्मण समझना चाहिये और इसी प्रकार दूसरे गुणोंके अनुसार दूसरे वर्ण। कर्म किये बिना चित्त नहीं रह सकता। इसी प्रकार प्राणके भीतरकी क्रियाशक्ति जो प्रकृति कहलाती है, उसके विरुद्ध कार्य करनेसे चित्तमें अस्वस्थता रहती है। इस समय जीव प्रकृतिके अनुसार कर्म नहीं करते। इसीसे चित्त व्यग्र, अप्रसन्न और दुःखी रहता है। पुस्तकें पढ़कर और उससे ज्ञान प्राप्तकर तुम निष्क्रिय मत बन जाना। भगवान्‌ने कहा है—‘**मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।**’ अर्थात् बिना कामके रहनेसे तुम प्रीति मत करो। शरीरको आग्रहपूर्वक बिना क्रियाके रखनेपर मन संकल्प-विकल्प करता है और उससे अनर्थ होता है। इसलिये तुम अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करो और भगवान्‌का भजन करो।

९४—गीता किसी सम्प्रदायका ग्रन्थ नहीं है। जगत्‌के मनुष्यमात्रके ऊपर लागू होनेवाला ग्रन्थ है। इसमें कही हुई बातें स्वाभाविक हैं और शरीरमात्रमें रखकर क्रिया करनेवाले चित्तका निदान ठीक-ठीक समझाकर गीताने यह बतलाया है कि चित्तको स्थायी शान्ति कैसे प्राप्त हो। गीताको सदा श्लोक और अर्थके साथ पढ़ना चाहिये, विचारना चाहिये, उसका नियमित पाठ करना चाहिये। पाठ करनेसे मुख्य श्लोक कण्ठस्थ हो जायँगे और उन श्लोकोंका अर्थ जब चित्त फुरसतमें होगा, तब स्फुरित होगा। उसमें कहे हुए साधनके प्रति श्रद्धा होगी और उस साधनके लिये प्रयत्न करनेमें उत्साह होगा, गीतामें बतलाये हुए साधनोंके करनेसे ही सिद्धि मिल सकती है। दूसरे अध्यायमें बतलाये हुए स्थितप्रज्ञके लक्षण, तीसरे अध्यायमें बतलाया हुआ काम-क्रोधके नाश करनेका आग्रह, बारहवें अध्यायमें बतलाये हुए भक्तके लक्षण, तेरहवें अध्यायमें बतलाये

हुए ज्ञानके लक्षण, चौदहवें अध्यायमें बतलाये हुए गुणातीतके लक्षण, सोलहवें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षण तथा इनके अतिरिक्त सारी गीतामें यत्र-तत्र कहे गये साधनोंको यदि साधक करे तो जरूर शान्ति प्राप्त हो। छठे अध्यायमें बतलाया हुआ चित्त-निरोधका उपाय आग्रहपूर्वक करनेयोग्य है। साधन किये बिना कुछ नहीं मिलता है।

९५—जगत्में जो दिखलायी दे रहे हैं, उन प्राणियों या पदार्थोंसे हमें आनन्द मिलनेवाला नहीं है। इसपर विचार करके सबसे पहले इसे निश्चय कर लेना आवश्यक है। जिस प्रकार लकड़ीके बनाये हुए पक्के आमका रंग और रूप सच्चे आमके जैसे होता है, परंतु उसमें रस नहीं होता, उसी प्रकार जगत्के किसी भी प्राणी-पदार्थमें आनन्द नहीं है। जिस प्रकार रसकी इच्छावालेको बनावटी आमकी जरूरत नहीं होती, उसी प्रकार आनन्द—अखण्ड आनन्दकी इच्छावालेको इस जगत्के प्राणी-पदार्थोंके सेवनकी जरूरत नहीं है। फिर चित्त इनकी इच्छा क्यों करता है? इसलिये करता है कि चित्तको यह भ्रम हो गया है कि इनसे आनन्द मिलेगा, परंतु इनके सेवनसे आनन्द मिलता नहीं। मन और इन्द्रियोंके अनुकूल विषयोंसे मन हर्ष प्राप्त करता है, परंतु वह हर्ष आनन्द नहीं है; क्योंकि वह हर्ष आगे चलकर ग्लानिमें परिणत हो जाता है। यदि भोगोंमें आनन्द होता तो भोग भोगते ही रहनेमें आनन्द-ही-आनन्द मिलता, परंतु वैसा मिलता नहीं। उलटे जी ऊब जाता है। आनन्द तो आत्मामें है। चित्त उस आत्मा या परमात्मामें डुबकी मारता है तब आनन्दका अनुभव करता है, प्रसन्न होता है और उससे हटनेका मन ही नहीं करता। चित्त दीर्घकालका संस्कार होनेके कारण इस बातको सहज ही समझता नहीं पर सदाचार, सत्संग, भक्ति और विचारसे धीरे-धीरे समझता है। चित्त जबतक जगत्के भोगोंके लिये प्रयास करेगा, तबतक कभी उसे शान्ति मिलनेवाली नहीं।

९६—जैसे एक व्यसनी यद्यपि जानता है कि अमुक व्यसनसे उसकी हानि होती है, अतएव उसका त्याग करना चाहिये तथापि वह

उसका त्याग नहीं कर सकता; क्योंकि उसे बहुत दिनोंकी आदत पड़ी होती है। उसी प्रकार मनने भोगोंमें रस मान लिया है और उसकी आदत पड़ गयी है। इसलिये भोगोंमें आनन्द नहीं बल्कि दुःख है—यह जानकर भी वह उनको त्याग नहीं सकता, आदतको निकाल डालनेके लिये सत्संग, विचार, भगवान्‌की अनन्य शरण और उद्यमकी विशेष आवश्यकता है और इनका सेवन करके तथा धीरज रखनेसे धीरे-धीरे उनका त्याग हो सकता है।

९७—कुछ लोग प्राणायाम सीखने और करनेके लिये कहते हैं और दूसरे सब जप, ध्यान, पूजा-पाठ आदि साधनोंको गौण बतलाते हैं। कोई कान बंद करके नाद सुनने और उसका अभ्यास करनेके लिये कहते हैं। कोई आँखें बंद करके अँधेरेमें जो कुछ दीख पड़े, उसमें वृत्ति लगानेके लिये कहते हैं। इसके तथा इसी प्रकारके अनेकों उपायोंसे अनेक दृश्य दिखलायी देते हैं। अनेकों राग तथा बाजे सुन पड़ते हैं। तदनन्तर बहुत-सी दूसरी सिद्धियाँ आती हैं—ऐसा कहा जाता है और यह बात भी सच्ची है। हम ऐसे लोगोंसे पूछते हैं कि इन सबसे क्या लाभ है?—संसारमें यश फैले, सम्पत्ति मिले। इससे विशेष लाभ क्या हुआ? क्या मन मारा गया? भगवान् मिले?—उत्तर मिलता है नहीं। ये सारे रास्ते भयंकर हैं। सुन लेना सहज है, शुरू करना सहज है, परंतु ठेठ पहुँचना कठिन है। इन सब साधनोंको करने जाकर कितने ही लोग तो रोगी हो जाते हैं, कई मर जाते हैं और कितने ही पागल हो जाते हैं। इसलिये आजकलके युगमें भूलकर भी ऐसे मार्ग नहीं ग्रहण करने चाहिये। ईश्वरके नामका जप, इष्टदेवकी प्रेमसे पूजा, उनका ध्यान, पाठ, सदाचार, सत्संग और हरिकथा तथा अपना उद्यम करते रहनेपर सहज ही मन शान्त हो जायगा और भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। अतएव लबार, दम्भी, ठग, धूर्तोंके वाग्विलासके जालमें न पड़कर सर्वभावसे भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये। भगवान् तुम्हारे हैं, सबके हैं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं। भगवान् तार देंगे। भगवान्‌में श्रद्धा रखो और सदाचार तथा सत्संगको कभी न भूलो।

९८—बुढ़ापेमें कुछ नहीं होता। हो सके तो अभीसे करना शुरू कर दो। उम्रके बढ़नेके साथ शरीरकी, मनकी तथा इन्द्रियोंकी शक्ति घट जाती है। जठराग्नि मन्द हो जाती है। कानोंसे कम सुनायी देता है। आँखोंसे कम सूझता है। बहुत देरतक बैठा नहीं रहा जाता। माला फेरनेमें हाथ दुखता है। उठा-बैठा नहीं जाता। शरीरमें अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं। इसलिये अभीसे जबतक कि शरीरमें, इन्द्रियोंमें और मनमें शक्ति, स्फूर्ति और उत्साह भरा है, तबतक भगवान्‌के नामका जप खूब करो, व्रत-नियम करनेका यह समय है। परोपकार, लोकसेवा तथा प्राणियोंके उपयोगी कार्य करनेका यही समय है। तीर्थयात्रा करनेका यही समय है। मन और इन्द्रियोंके संयमकी साधनाका यही समय है। भगवान्‌की भक्ति और सत्संगका यही समय है। सद्‌गुणोंके धारण करने और दृढ़ करनेका यही समय है। ज्ञान प्राप्त करनेका यही समय है। सब प्रकारके सुकृतके करनेका यही समय है। परलोकके पाथेय तैयार कर लेनेका यही समय है। मुक्तिके लिये साधना करनेका यही समय है। ऐसा समय आयेगा जब आँखें अंधी हो जायँगी, कान बहरे हो जायँगे, घरमें कोई पूछेगा नहीं, कोई कहा नहीं करेगा, भूख बहुत लगेगी पर खाया हुआ पचेगा नहीं, कोई बात करना नहीं चाहेगा, कोई पास नहीं बैठेगा, तुमसे कुछ होगा नहीं और दूसरे कहा करेंगे नहीं, कोई गिनेगा नहीं, चिढ़ायेंगे, दिल्लगी उड़ायेंगे। परिवारके लोग तिरस्कार करेंगे, पैसा होगा नहीं। दान-पुण्य होगा नहीं, तप-तीर्थ होगा नहीं, मरनेके समय मल-मूत्रका ठिकाना रहेगा नहीं, होश रहेगा नहीं, सन्निपात हो जायगा, न बोलनेयोग्य बातें मुँहसे निकलेंगी, कुछ पहचानमें नहीं आयेगा, मन बेचैन हो उठेगा, कण्ठमें कफकी घरघराहट होने लगेगी। इस समय सशक्त अवस्थामें यदि भगवान्‌की आराधना की हुई होगी, सुकृत किये हुए होंगे, भगवान्‌को अपनाकर भगवान्‌की अनन्य शरण ग्रहण की हुई होगी तो चौदहों लोकोंके नाथ भगवान् आकर सामने खड़े हो जायँगे और बेहोशीकी हालतमें भी भगवान् अपने

जनकी बाँह पकड़कर अपने धाम ले जायँगे। इसलिये भाई! तुम अपनी सशक्त अवस्थामें ऐसी कमर बाँधो कि (१) भगवान्‌का नाम-स्मरण खूब करो, (२) जब मौका लगे तभी परोपकार करते रहो, दूसरोंका भला करते चलो, (३) कभी किसीकी बुराई मत करो और (४) सगे-सम्बन्धी तथा इस संसार एवं संसारके भोगोंमेंसे मनको हटाकर उसे भगवान्‌में जोड़ते रहो। आये अवसरमें चूक जाओगे तो पछताओगे। ऐसा समय फिर नहीं आनेका। उठो, जागते हो या सो रहे हो? कल्याणके मार्गपर कमर कसकर डट जाओ!

९९—नित्य गीताका पाठ करो और नियमित पाठ करो। बिना किसी आडम्बरके सीधी और सरल भाषामें जीव परम पदको किस प्रकारसे प्राप्त कर सकता है—इसका सादा और सहज उपाय गीतामें बताया गया है। साधन करते समय क्यों अड़चन आती है, क्या अड़चन आती है, उसको किस प्रकार पार किया जाता है—ये सारी बातें बतायी गयी हैं। पहले क्या करना चाहिये और बादको क्या करना चाहिये—यह सब गीतामें बताया गया है। यदि तुम भक्तिके मार्गमें हो तो बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षणके आठ श्लोक हैं, उनमें बताये हुए लक्षणोंको अपनेमें उतारनेके लिये अभ्यास करो और जबतक वे लक्षण तुममें न आवें तबतक 'मैं भक्त हूँ, पार पा गया हूँ' इस प्रकार अभिमान करके साधनमें ढिलाई न आने दो। यदि तुम ज्ञानके मार्गमें हो तो तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके बीस लक्षण कहे गये हैं, उन्हें अपनेमें उतार लो और वे जबतक पूरे-पूरे न उतर जायँ, तबतक अपने ज्ञानीपनका झूठा ढोंग न रचाओ। तुम्हें योगमार्गमें जाना हो तो छठे अध्यायमें कहे गये साधनके अनुसार मनको विचारशून्य बनानेका अभ्यास करो। दूसरे अध्यायमें कहे गये स्थितप्रज्ञके लक्षण और चौदहवें अध्यायमें बताये गये गुणातीतके लक्षण—यदि उस साधनपथमें हो तो अपनेमें उतारो। इन सबका एक ही ध्येय है कि चित्तको जगत्‌से खींचकर भगवान्‌में जोड़ो, उसमें लीन कर दो। जिस प्रकार नदी सागरमें मिलकर सागररूप

हो जाती है, उसी प्रकार चित्तको जगत्से खींचकर परमात्मामें मिलाकर एक कर देना चाहिये। ऐसा किये बिना छुटकारा नहीं है, आज करो या लाखों वर्षोंमें करो, जबतक यह नहीं होता, तबतक दुःख मिटनेवाला नहीं। भगवान्की भक्तिके बिना यह काम बननेवाला नहीं है। भगवान् मूर्तिमें ही हैं, ऐसी बात नहीं। वैकुण्ठमें ही हैं, ऐसा भी नहीं। वह जैसे मूर्तिमें हैं, वैकुण्ठमें हैं, वैसे ही सबके शरीरमें हैं। अतएव किसीका अपमान नहीं करना चाहिये। कड़वी वाणी मत बोलो, किसीको ठगो मत और यथाशक्ति दान-सम्मानसे सबकी पूजा करो। सबमें भगवान् हैं और यह सब भगवान्में है—यह सच्ची और अन्तिम साधना है। मूर्तिपूजा तो प्रारम्भिक रीति है। सबमें और सर्वत्र भगवान् हैं, इस प्रकार देखे और समझे बिना लाखों उपायोंसे भी पूर्ण शान्ति नहीं मिल सकती। तुम जगत्की चिन्ता छोड़ दो। जगत्को तो भगवान् चलाता है और सब कुछ निश्चित है, हजारों और लाखों वर्षोंका भविष्य निश्चित है। तुम किसलिये चिन्ता, भय, उद्वेग और हाय-हाय कर रहे हो? चित्तको नित्य शान्त रखो। चित्तको नित्य प्रसन्न रखो। एक ही दृष्टिकोण रखो कि तुम्हारा चित्त शान्त और प्रसन्न है। निर्मल चित्तमें, शान्त चित्तमें, प्रसन्न चित्तमें भगवान्का दर्शन होता है।

१००—फलकी इच्छा और कर्मकी आसक्तिका त्याग—इन दोनोंके लिये गीतामें विशेष आग्रह किया गया है। कर्म किये बिना मनुष्य रह नहीं सकता, इसलिये कर्म तो करना ही है, कर्म अर्थात् प्रकृतिके अनुसार नियत किया हुआ कर्म, धर्म-कर्म, परोपकार-कर्म आदि कर्मफलकी इच्छाका त्याग और आसक्तिरहित होकर किया हुआ कर्म बन्धनकारक नहीं होता। उलटे मोक्षप्रद बनता है। इसलिये जितने बन सके उतने जीवनमें इस प्रकारके कर्म किये जाओ। ऐसे कर्ममें बहुत बल है। कर्म करके मान-प्रतिष्ठा और परलोकके सुखकी इच्छा करना अथवा उनकी प्राप्तिसे प्रसन्न होना—ये सब इच्छापूर्वक कर्म करनेके लक्षण हैं। फलकी इच्छाका और आसक्तिका त्याग हो चुका है या

नहीं, इसे बहुत सूक्ष्मतासे विचार करके देखना चाहिये और भूल हो तो उसे सुधार लेना चाहिये।

१०१—तुम्हें भगवान्‌ने धन दिया है? दिया है तो दान-पुण्य करो। लोकहितके काम करो। धनको परोपकारके लिये व्यय करने लगो। धन तो नित्य पूछता है कि 'मैं जाऊँ?' तुमने उसे जकड़ रखा है। वह जानेके लिये व्याकुल हो रहा है। तुम खर्च नहीं करोगे तो वह नजर बचाकर बाहर निकल जायगा। वह किसीके यहाँ स्थिर नहीं रहा, तुम्हारे यहाँ भी रहनेवाला नहीं। तुम न खर्च करोगे तो तुम्हारे वारिस उस धनको शराब, जुआ, सट्टा, दुराचार और ऐशो-आराममें खर्च कर देंगे। इससे तुम्हें क्या फल मिलेगा, यह तुम विचार कर देखो। वैद्य-डॉक्टर और बहममें जायगा। चोर, डाकुओं और आगकी भेंट होगा। व्यापार-धंधेमें घाटा लगेगा और चला जायगा। धन तो आता है जानेके लिये ही। इसलिये तुम अपने हाथोंसे उसे अच्छे कामोंमें खर्च करते रहो। यों करनेसे पाप दूर होंगे। परिवारके लोगोंमें अच्छे संस्कार पड़ेंगे। तुम्हारे यहाँ सज्जनोंका आना-जाना होगा और सबमें अच्छे संस्कार पड़ेंगे। कुछ-न-कुछ निमित्त खड़ा करके धन सत्कर्ममें खर्च करते रहोगे तो तुमको और तुम्हारे परिवारको सुख होगा। धन खर्च करना भगवान्‌के लिये। कीर्तिके लिये न खर्च करना। कामनाके लिये न खर्च करना। एक ही क्रिया भावनाके भेदसे बिलकुल दूसरा फल प्रदान करती है। कीर्तिके लिये खर्च किया हुआ धन कीर्ति दे सकता है और न भी दे सकता है, परंतु वही धन भगवत्-प्रीत्यर्थ शुद्धभावसे खर्च किया जाय तो उससे भगवान् अवश्य प्रसन्न होते हैं। धन बरता दिया जाता है तो वह सुख देता है और गाड़कर रखा जाता है तो वह दुःख, क्लेश, कलह, अनाचार और मृत्युको उत्पन्न कर अन्तमें स्वयं भी चला जाता है। इसलिये धनका प्रतिदिन किसी-न-किसी रूपसे सदुपयोग करते रहो।

१०२—कर्ममात्रका कर्ता तो चित्त ही है। उसमें पूर्वजन्मके या इस

जन्मके जो संस्कार होते हैं, उन्हींके अनुसार वह कर्म करता है। पड़े हुए संस्कार फलित होते हैं। अच्छे संगसे अच्छा संस्कार पड़ता है, बुरे संगसे बुरा संस्कार पड़ता है। इसलिये सज्जनके संगमें रहना चाहिये, दुर्जनके संगमें कभी नहीं जाना चाहिये। दूसरोंको सुख मिले, जिसका ऐसा आचार-विचार हो, वह सज्जन है। दूसरोंको दुःख मिले, जिसका ऐसा आचार-विचार हो, वह दुर्जन है। इस प्रकार समझकर संग करना चाहिये।

१०३—तुम्हें सारे जगत्के शास्त्रोंका मूल बतलाता हूँ। आत्मा तो सबका चेतनस्वरूप है, नित्य है, अजर है, अमर है। इसमें तो सब एकमत हैं। भेद इस प्रकार है—कोई कहता है कि जितनी देह हैं उतनी ही आत्मा हैं। कुछ लोग कहते हैं, कि जितनी देह हैं, उतने चित्त तो हैं पर आत्मा जो परमात्मा-स्वरूप है, वह तो सबमें एक ही है। यह झगड़ा है नन्हा-सा पर हो गया है बड़ा। इसमें तुम मत पड़ो। एक-एक कदम चलकर मंजिल काटो। पीछे जो होगा सो देख लिया जायगा। जिसने आँखोंसे नहीं देखा, वह अनुमान करके कटता-मरता है। जिसने नजरसे देखा, उसने पूरा नहीं देखा। इसलिये वह अपने देखे हुएकी बात कहता है और कहता है कि दूसरा है ही नहीं। जो विवाद करता है, वह अपूर्ण है। परमपदको पानेवाला झगड़ता नहीं पर झगड़नेवालेको मार्ग दिखलाता है, जो जितना जानता है, उसीके अनुसार करता है तो समझना चाहिये कि वह रास्ता काट रहा है। हम शरीर नहीं हैं, यह बात तो निश्चित है न? हम बुद्धि नहीं हैं, यह बात भी तो निश्चित है। अब आत्मा एक है या अनेक इसे पीछे देखा जायगा। परंतु जब शरीर, मन और बुद्धि हम नहीं हैं, तब उनके पीछे क्यों तने हुए जायँ। चित्त, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरको शान्त रखो, इनका निग्रह करो, इससे चित्त शान्त होगा। सारे विकारोंका शमन हो जायगा। सारी इच्छाएँ शान्त हो जायँगी। फिर पीछे जो होगा अपने-आप मालूम हो जायगा। इच्छाओंका शमन न होनेसे मन और इन्द्रियाँ

भोगकी ओर देखेंगी। मन भोग और वासनाके अधीन हो जायगा तो फिर जानकारीका क्या फल होगा? ऐसे लोगोंके लिये तो आत्मा और परमात्मा एक हैं या भिन्न, आत्मा एक है या अनेक, ये सारी बातें संनिपातके बकवादके समान हैं।

मनके शान्त और भोग-वासनासे रहित हुए बिना अध्यात्मकी बातें करनेवाला केवल जीभका रस लेता है। जो पहले करना चाहिये उसे नहीं करता है। अपने गाँवसे दो सौ मील दूर दूसरे गाँवमें जानेवाला मनुष्य यदि एक पग भी आगे नहीं रखता और उस गाँवके वर्णनमें दूसरेके साथ झगड़ता रहता है तो वह उस गाँवके रास्तेमें गये बिना वहाँ कैसे पहुँचेगा और जो रास्तेपर चलकर उस गाँवमें पहुँच गया और अपनी आँखों गाँवको देख लिया, उसे फिर गाँवके वर्णनके साथ विवाद ही क्यों करना पड़ेगा। भाई! रास्ता पकड़ो, काममें लग जाओ। क्या करना है, इसे एक वाक्यमें बताता हूँ—ऐसा उपाय करो कि जिससे चित्त सदा शान्त-क्षोभरहित रहे। तुम्हारा, दूसरेका और सबका। तुम दूसरेके प्रति ऐसा कुछ भी न करो, जिससे उसके चित्तमें क्षोभ हो। इसी प्रकार दूसरे जो कुछ करें, उससे अपने चित्तको क्षुब्ध न होने दो। दूसरोंके द्वारा जो अपने चित्तको क्षुब्ध नहीं होने देता और सदा शान्त-चित्तसे प्राप्त कर्मको किये जाता है, वह अजेय योद्धा है और जिसका चित्त दूसरोंसे क्षोभ पाता है, वह हारा हुआ है। जिसका चित्त दूसरोंसे पराभव पाता है, वह परतन्त्र है। जिसका चित्त दूसरोंसे पराभव नहीं पाता और निर्विकार तथा क्षोभरहित रहता है, वह स्वतन्त्र और सदा मुक्त है। पराभव पाया हुआ चित्त दूसरेके अधीन हो जाता है, उसीका नाम परतन्त्रता है। उसीको कहते हैं—***'पराधीन सपने सुख नाहीं'*** और अनेक विकारोंके प्राप्त होनेपर भी जिसका चित्त शान्त, समरस, क्षोभरहित, गम्भीर और निर्विकार रहता है, वही स्वतन्त्र है। वही सदा मुक्त है। कर्म, उपासना और ज्ञानका यही फल है। जिसका चित्त सदा निर्विकार और निर्विचार रहता है, वह धन्य है! सारे सद्‌गुणोंकी व्याख्या

इसीमेंसे होती है। इसे सीखो, इसीके लिये प्रयत्न करो। इसकी प्राप्ति ही जीवन्मुक्ति है। वही परम सिद्धि, वही परमपदकी प्राप्ति है। यह कैसे मिलेगी? कर्तव्यके पालनसे, परमात्माकी भक्तिसे, सत्संगसे, सत्य और सदाचारके सेवनसे तथा इच्छामात्रका त्याग करनेसे। धीर-धीरे जैसे मंजिल कटेगी वैसे ही शान्ति आती जायगी। जैसे-जैसे रास्ता कटेगा वैसे-वैसे ध्येय समीप आता जायगा। वह अन्तमें एक दिन ध्येयको पा लेगा। धीरजसे लगे रहना चाहिये।

१०४—फोटो खिंचवाते समय ठीक स्वस्थ होकर फोटोके काँचके सामने देखना पड़ता है। तभी फोटो ठीक आता है। हिलने-डुलनेसे फोटो ठीक नहीं आता। उसी प्रकार एकाग्रचित्तसे जो कुछ देखोगे, जो सुनोगे, जो जानोगे, जो अनुभव करोगे, उसका संस्कार चित्तमें पड़ेगा और जैसा संस्कार पड़ेगा, वैसी कामना जाग्रत् होगी और उस कामनाको पोषण मिलनेपर वह फूले-फलेगी और बड़ी हो जायगी तब वही मनको सुख-दुःख देनेवाली हो जायगी। इसलिये तुम जो कुछ सुनो, समझो, अनुभव करो, देखो—पहले विचार करके जान लो कि क्या वह तुम्हारे कल्याणके लिये ठीक है? जगत्में श्रेय और प्रेय—ये दो प्रकारके पदार्थ हैं। जो मन और इन्द्रियोंको तात्कालिक हर्ष प्रदान करे और परिणाममें दुःखप्रद हो, वह प्रेय कहलाता है, उसके संस्कार चित्तमें मत पड़ने दो। जिससे चित्तमें शान्ति हो, जो आत्माका कल्याण साधनेवाला हो और परिणाममें सुख, शान्ति और आनन्द प्रदान करनेवाला हो, वह श्रेय कहलाता है। उसके संस्कार चित्तपर पड़ने दो।

दूसरी बात यह है कि चित्तमें जिसका संस्कार पड़ेगा उसकी कामना जाग्रत् होगी। ईश्वरकृत सृष्टि जैसे नदी, सरोवर, जंगल, पहाड़ आदिके दृश्य, आकाश, सागर, पेड़-पौधे आदिको देखनेसे उनके संस्कार मनको शान्त करते हैं और उसे ईश्वरकी ओर ले जाते हैं। इसलिये इनके संसर्गमें रहना चाहिये और इसीसे साधु-संत इनका आश्रय लेते हैं। यदि चित्तको सांसारिक जीवोंकी सृष्टिके सम्पर्कमें आने

दिया जायगा तो उसकी कामना जागेगी और वह दुःखमें ढकेल देगी। कल्याणकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे प्रपंचकी सृष्टिको जानी-न-जानी, देखी-न-देखी, सुनी-न-सुनी कर दें और सत्संग, हरिकथा एवं भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन रस लेते हुए करें। जैसा संग करोगे वैसे बनोगे। इसलिये संग देख-विचारकर करो। इसमें कल्याणकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये स्त्रीका संग तथा स्त्रीके संगीका संग न करें । उसमें भी परस्त्रीका संग तो कभी न करें। कभी असावधान नहीं रहें। मनके भरोसेपर कभी नहीं रहें।

कबीरदासजी कहते हैं—

जहाँ जलाई सुंदरी तहँ जिन जाहु कबीर।
उड़ि भभूत अंगन लगे सूना करे सरीर॥

जब जलायी गयी स्त्रीकी राखकी यह दशा है, तब रसपूर्वक स्त्रीसंसर्गमें रहनेवाले मनकी क्या दशा होगी? इसलिये व्यवहारमें कभी परस्त्रीके सम्पर्कमें आना पड़े तो उसे माँ, बहिन, लड़की-जैसे शब्दोंद्वारा पुकारकर यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये।

१०५—सारे ब्रह्माण्डमें परमात्मा एक ही है। वेष चाहे जो हो पर अंदर तो एक ही है। स्थूल शरीर और चित्त भले ही जुदे-जुदे हों; परंतु उन सबके आधार तो सबके परमात्मा एक ही हैं। तुम चाहे जिस मूर्तिका पूजन-भजन करो, उसका रूप-शृंगार भले ही दूसरा हो, नाम भले ही दूसरा हो पर सबमें परमात्मा तो एक ही हैं और मूर्तिके रूपमें फल प्रदान करनेवाला वही चेतन परमात्मा है। सनातनधर्मका यही बड़ा रहस्य है। हनूमान्, भैरव, देवी, महादेव, विष्णु, राम, कृष्ण, गणपति अथवा चाहे जिस नामके देवता हों, उनकी मूर्तियाँ जुदी-जुदी होते हुए भी सबमें व्याप्त रहनेवाला परमात्मा एक ही है। अब चाहे तुम उस मूर्तिवाले देवताको भजो, चाहे मूर्तिके भीतर विराजमान उस परमात्माको भजो, जो सर्वशक्तिमान्, निरंजन, निराकार तथा सर्वव्यापक है; उसको भजोगे तो उसको पाओगे, नहीं तो मूर्तिके उस देवताको प्राप्त करोगे

जो अल्पशक्तिमान् है। जिसको भजोगे, उसीको पाओगे। पोस्ट-ऑफिसमें पोस्टमास्टरको रुपये देकर पोस्ट-ऑफिसकी सही तथा मुहर लगा लोगे तो वे रुपये पोस्ट-ऑफिसमें तुम्हारे जमा होंगे और पोस्ट-ऑफिस उनकी देनदार होगी, परंतु यदि वही रुपये उसी पोस्टमास्टरको देकर तुम उसीकी व्यक्तिगत सही लोगे तो उन रुपयोंका देनदार वह मनुष्य होगा, जो अन्य है। उपासनामें मेहनत समान होती है, परंतु भावके भेदसे फलमें बड़ा भेद हो जाता है। इसलिये जो ठीक जान पड़े वही करो। विभिन्न देवोंको ग्रन्थोंमें जो भगवान् कहा गया है, उनका आशय यह है कि चेतन-सत्ता तो सबमें एक ही है। सबमें सत्ता तो परमात्माकी ही है। जिस प्रकार राज्यमें सिपाहीसे लेकर मन्त्रीतक सभी परिमित सत्तावाले होते हैं और वह सत्ता भी राजाकी ही सत्तासे होती है और राजा सर्वोपरि सत्तावाला होता है। उसी प्रकार देव, मनुष्य, अनेकों जीव अल्प सत्तावाले हैं और वह भी परम कृपालु परमात्माकी सत्तासे सत्ता तो एक ही है और वह परमात्माकी सत्ता है। तब दूसरे बखेड़ोंको छोड़कर उसीको भजो न? एक राजाकी सेवा करनेवाला दूसरे राज्याधिकारियोंका तिरस्कार नहीं करता, उनके मानकी रक्षा करते हुए काम लेता है। उसी प्रकार तुम भी परम परमात्माका भजन करते हुए अन्य देवोंका तिरस्कार न करके उनका यथायोग्य सत्कार करो। उनका यथायोग्य पूजन-अर्चन करो और ऐसा करते हुए यह न भूलो कि उनमें परमात्मा ही विराजता है और उनकी पूजा करते हुए तुम परमात्माकी ही पूजा करते हो, ऐसा मानो जो सर्वथा सत्य है। सच्ची बात तो यह है कि एक ही परमात्माके अनेक वेष हैं। पर वेष बदलनेसे व्यक्ति थोड़े ही बदलता है? राजा यदि गरीबका वेष धारण करे तो अनजान आदमी उसके प्रति गरीब-जैसा व्यवहार करेगा पर जो जानकार होगा वह भीतरसे राजाके प्रति जैसा और बाहरसे गरीबके प्रति जैसा व्यवहार करेगा, क्योंकि यदि जानकार बाहरसे राजा-जैसा व्यवहार करेगा तो वह वेषको लजायेगा और सचमुच गरीबके प्रति

जैसा व्यवहार करेगा तो मूर्ख कहलायेगा। वेषीको पहचानकर वेषके अनुसार सभ्य व्यवहार करनेमें जो सदा सावधान हो, उसीका नाम जीवन्मुक्त है। इस प्रकारके व्यवहारका नाम '**योगः कर्मसु कौशलम्**' है। यह कठिन है पर निष्काम कर्मसे, निष्काम भक्तिसे और सत्संगसे समयपर प्राप्त होता है।

१०६—तुमने चौपड़ देखी है? चार आदमी खेलनेवाले होते हैं। दाँव रखने और पासा पड़नेपर उसीके अनुसार गोटी चलानी पड़ती है। पासा फेंकता है खेलनेवाला पर कितना पड़ेगा यह उसके हाथकी बात नहीं। वह जो डालना चाहता है सो नहीं पड़ता और वह नहीं जीतता। चौपड़में चौबीस खाने एक ओर होते हैं। वैसे ही चारों ओर चलकर जीतना पड़ता है। यह सब बहुत कठिन है। खिलाड़ी ऊब जाता है तो भी उसका मन खेलको छोड़ना नहीं चाहता। इस खेलको देखनेवालेका मन इसे खेलनेके लिये ललचाता है, फिर खेलनेवाला इस खेलसे किस प्रकार छूटे? यदि वह छोड़कर खड़ा होता है तो दूसरे तीन बलपूर्वक उसे बैठा लेते हैं, उठने नहीं देते। इसी प्रकार जीवरूपी खिलाड़ी चौबीस तत्त्वके इस संसारमें चार प्रकारके जीवोंकी खानोंमें भ्रमण करता रहता है, छूटता नहीं। छोड़ना चाहता है तो सगे-सम्बन्धी, स्नेहीरूपी दूसरे खिलाड़ी छूटने नहीं देते। सच तो यह है कि उसके पेटमें ही खेलके लिये रस रहता है। खेलमें रस न रहे, खेल दुःखस्वरूप और नीरस लगे, पूरी तौरसे ऊब जाय और उठ खड़ा हो—इसका नाम है वैराग्य, इसका नाम है त्याग। जीव अपनी इच्छासे ही इस संसारके खेलको लिये बैठा है और चारों खानोंमें भटका करता है। इच्छाका त्याग किये बिना कोटि उपाय करनेसे मुक्ति नहीं होती। इच्छाका त्याग कब हो? जब वस्तु नीरस लगे। वस्तु नीरस कब लगे? जब वस्तुका सच्चा स्वरूप समझमें आवे अर्थात् जब ज्ञान हो। ज्ञान कब हो? जब चित्त निर्मल हो, तब वस्तुका सच्चा स्वरूप समझमें आये। चित्त निर्मल कब हो? निष्काम कर्म, निष्काम भक्ति और सत्संगका सेवन हो तब। जप,

तप, दान, पुण्य, तीर्थ-सेवन इनका निष्कामभावसे सेवन करनेपर सबका एक ही फल मिलता है और वह है चित्तशुद्धि। चित्तशुद्धिका फल है विचार। विचारका फल है ज्ञान। ज्ञानका फल है इच्छामात्रका त्याग। भोगकी इच्छामात्रका त्याग ही मुक्तिका सच्चा साधन है। जबतक जगत्‌के भोगोंमें रुचि है, तबतक मुक्ति दूर है, तबतक अज्ञान है—ऐसा समझना चाहिये। केवल वाद-विवाद और बातोंसे मोक्ष नहीं मिलता। झूठ, क्रोध और भोगेच्छाका त्याग करनेके लिये धीरजसे अभ्यास करो। रोज लगनसे अभ्यास करो। तुरंत फल नहीं मिलेगा, मेहनत करते-करते फल मिलेगा। सत्य और प्रिय वाणी बोलनेका अभ्यास करो। अनन्यभावसे भगवान्‌की शरण लो। भगवान्‌की भक्ति करो। भगवान् कहो, ब्रह्म कहो, परमात्मा कहो—चाहे जो नाम कहो—सत्-चित् और आनन्दस्वरूप एक ही वस्तु है। चित्त जिसको चाहेगा, उसे पायेगा। भोगोंके लिये उत्सुक होगा तो जन्म-मरणके द्वारा भोगोंको पायेगा। भगवान्‌के लिये उत्सुक होगा तो भगवान्‌को पायेगा। वस्तुतः यह है, जो ठीक लगे वह करो। बहुत-से ग्रन्थोंका सार यही है, शास्त्रोंका निचोड़ यही है। साधु-संतोंके अनुभव और उपदेशका सार यही है। करनेके लिये उतर पड़ो और भगवान्‌की कृपासे पार उतरो।

१०७—तुम जगत्‌की ओर देखो। जिधर देखोगे उधर आकाश दीख पड़ेगा। इसलिये यह जो दृश्य जगत् दिखलायी पड़ता है, वह सब आकाशमें है; क्योंकि जगत्‌के पदार्थोंके चारों ओर और भीतर भी आकाश ही है। आकाशसे यह जगत् उत्पन्न होता है, आकाशमें रहता है और आकाशमें लय भी होता है। आकाशसे बाहर कहीं नहीं जाता। आकाशसे बाहर कोई जगह ही नहीं है। जहाँ कुछ दूसरा है वहीं आकाश है और आकाशमें विभाग नहीं, आकाश अखण्ड है पर वह आकाश तो जड है, आकाशसे परे परमात्मा है। जिससे परे कोई नहीं, वह परमात्मा है। जो सर्वत्र व्यापक, सबका नियन्ता है, सब कुछ जिसमेंसे उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा

और जिसमें सब रहते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं, जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, वह परमात्मा है। उस परमात्मासे ही आकाशके साथ यह सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त होता और लयको प्राप्त होता है। वह परमात्मा सर्वत्र है, सबमें है। अपने शरीरमें है, सबके शरीरके बाहर और अन्दर है। सारी विद्या, सारी शक्ति और सारे शास्त्र उसीमें हैं। इन्द्रियोंकी शक्ति, मनकी शक्ति, बुद्धिकी शक्ति, शरीरकी शक्ति, पदार्थ और उनकी विविध शक्तियाँ—ये सब उसीसे हैं। परमात्मासे यह सब किस प्रकारसे हुआ, किस प्रकार होता रहता है और कहाँ जाकर रुकेगा, यह कुछ भी जाना नहीं जा सकता; किसीने जाना नहीं। तुम इसके लिये व्यर्थ प्रयत्न मत करो। तुम इतना निश्चय समझो कि परमात्मा है, सर्वत्र है, तुममें है। उसकी निष्कामभावपूर्वक कर्मसे, उपासनासे और ज्ञानसे सेवा करो। उसके नामका खूब जप करो। निष्कामभावसे जप करते रहनेपर समय आवेगा, तब चित्तका मैल धुल जायगा और चित्तमें परमात्माका ज्ञान होगा। उसी प्रकार, जैसे स्वच्छ दर्पणमें आकार स्पष्ट दीख पड़ता है।

भगवान्‌का नाम जपनेवालेको चाहिये कि झूठ, चोरी, दुराचार, आलस्य, अभिमान, व्याकुलता, व्यसन और जुआका त्याग करके सदाचार और शान्तिपूर्वक अपने प्राप्त कर्मोंको निष्कामभावसे करता रहे और मनको भगवान्‌में जोड़ दे। मन दूसरी ओर कहीं भी जाय तो वहाँसे पीछे मोड़कर भगवान्‌के रूपमें या उसके जपमें अथवा उसकी कथा सुननेमें लगावे। यों करते-करते जगत् और उसके भोग नीरस लगेंगे। मन शान्त होता जायगा। मनको भगवान्‌में स्वाभाविक प्रीति होती जायगी। ऐसी अवस्थामें भी लगे रहोगे तो मन भगवान्‌में लीन हो जायगा और उस समय भगवान्‌के सिवा तुम्हें दूसरी कोई वस्तु नहीं दीख पड़ेगी। मनका मरण, मनका परमात्मामें लीन होना—इसीका नाम मुक्ति है। मन जबतक जीता रहेगा, तबतक जन्म-मरण नहीं छूटेगा।

जबतक मनमें इच्छाएँ रहेंगी, तबतक मन जीता रहेगा। मन इच्छाओंसे जीता है, इच्छाओंसे ही पुष्ट होता है, इच्छाओंके मरे बिना मुक्ति नहीं, सुख नहीं, शान्ति नहीं।

१०८—यह एक सौ आठ मणियोंकी सत्संग-माला पूरी हो रही है। इसमें जो लिखा गया है, वह शास्त्रानुसार लिखा गया है। संतोंके उपदेशके अनुसार तथा अनुभवसे पक्का करके लिखा गया है। इसे पढ़ो, विचार करो और आचरणमें उतारो तो जरूर लाभ होगा। जागे बिना स्वप्नका दुःख नहीं मिटता। खाये बिना भूख नहीं मिटती, उसी प्रकार किये बिना कुछ होता नहीं। तुमको ही करना पड़ेगा। सारा संसार मनके अधीन है। किसी शस्त्रसे, बंदूक या तोपसे, किसी मन्त्र या तन्त्रसे मन नहीं मरता। मन जबतक जीता है, तबतक संसार है। मनका मरना ही मुक्ति है। मनका जीना और मरना उसके अपने अधीन है। मन स्वतन्त्र है, बहुत बलवान् है। वह दूसरे किसीसे मरता नहीं। किसीके शाप या आशीर्वादसे मरता नहीं। देवोंके, सिद्धोंके और संतोंके आशीर्वादसे सम्पत्ति मिलती है, मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति आशीर्वादसे कभी नहीं मिलती। वह तो अपनी ही मेहनतसे मिलती है। दूसरे तो मार्ग बतलाते हैं। मार्गपर स्वयं चलकर लक्ष्य-स्थानपर पहुँचना पड़ता है। चले बिना राह नहीं कटती, मन अपने विचारसे ही शान्त होता है। मनमें विचार पैदा होता है निष्काम भक्तिसे। विचार होनेपर ज्ञान और वैराग्य होता है। जबतक भक्तिसे ज्ञान और वैराग्य न उत्पन्न हो, तबतक जानना चाहिये कि जो भक्ति हो रही है, वह सकाम भक्ति है। सकाम भक्ति या कोई भी सकाम कर्म जगत्की सम्पत्ति और कीर्ति प्रदान करता है। मतलब यह है कि माया प्रदान करता है। निष्काम ही वह विचार पैदा करता है, जो मोक्षका साधन है। मोक्षके लिये किसीकी आशा मत करो। निष्काम भक्ति, निष्काम पुण्य-कर्म, सदाचार, सत्य और मनकी शान्ति—इनका सेवन करते जाओ। इनमें लगे रहो। पहले मार्ग लम्बा और कठिन जान पड़ेगा पर जब तुम उसे आचरणमें लाने लगोगे

और उसमें रस मिलेगा, तब वह छोटा और सरल मार्ग जान पड़ेगा। तुममें, मुझमें और सबमें एक ही परमात्मा है। तुम, मैं और सब परमात्मा-स्वरूप ही हैं। अन्तमें तो ऐसा लगेगा कि यह सब परमात्मामें ही भासित हो रहा है। सिनेमाके परदेके ऊपर बोलती-चालती सारी सृष्टि दीख पड़ती है। उसी प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड अस्खलित परमात्मामें भासित हो रहा है। यह मिथ्या है, फिर भी निश्चित है। जिस प्रकार एक फिल्म बार-बार दिखलायी जाती है, उसी प्रकार यह बृहद् ब्रह्माण्ड बार-बार वैसे-का-वैसा दिखलायी देता रहता है। सिनेमा-सृष्टि मिथ्या है। वहाँ परदेके सिवा कुछ नहीं रहता। उसी प्रकार यहाँ परमात्माके सिवा जो कुछ भी दिखलायी देता है वह आत्मदृष्टिसे मिथ्या है। सिनेमावाले फोटो लेकर फिल्म बनाते हैं। भगवान्ने बिना फोटोके ही यह फिल्म बना ली है। यह उनकी विशेषता है। परमात्मा ही सत्यस्वरूप हैं और तुम्हारा जो असली स्वरूप है, वही परमात्मा है, यह निश्चय है। मतलब यह कि परमात्माके सिवा जो कुछ भासित होता है, वह परमात्माके द्वारा, परमात्मामें और परमात्माकी शक्तिसे दिखलायी देता है और है मिथ्या। मन जैसे-जैसे यह समझता जायगा वैसे-वैसे उसको शान्ति मिलती जायगी। लकड़ीका बनावटी रूप-रंगवाला नीरस आम है। उसे जान लेनेके बाद कौन उसको खानेकी इच्छा करेगा? संसारके पदार्थ बनावटी आमके समान हैं। बनावटी आममें जैसे रस नहीं होता उसी प्रकार संसारके जो प्राणी-पदार्थ हैं, उनमें आनन्द नहीं। अखण्ड-आनन्द, अखण्ड-सुख तो परमात्मामें ही है और वह तुम्हारा सच्चा स्वरूप है।